जागृति का सन्देश

[धार्मिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित करने वाले स्वामी विवेकानन्द जी के व्याख्यान]

लेखक—

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक—

श्री गणेश पाण्डेय

प्रकाशक—

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज, प्रयाग

प्रथम संस्करण १५०० } जून १९३९ { मूल्य १)

तुम लोगों को घोर नास्तिक देखना पसन्द करूँगा,
संस्कारों से भरे मूर्ख देखना न चाहूँगा। नास्तिकों में कुछ
जीवन तो होता है, उनके सुधार की तो कुछ आशा है,
ो नहीं हैं। लेकिन यदि मस्तिष्क में कुसंस्कार घुस जाते हैं,
बिल्कुल बेकार हो जाता है। दिमाग बिल्कुल फिर जाता
यु के कीड़े उसके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। तुम्हें इन
छोड़ना होगा। मैं साहसी, निर्भीक नौजवानों को चाहता
चाहता हूँ कि तुम लोगों में ताजा खून हो, स्नायुओं में
, पेशियाँ लोहे की तरह सख्त हों। मस्तिष्क को बेकार
ज़ोर बनाने वाले भावों की आवश्यकता नहीं, इन्हें छोड़

—विवेकानन्द

विषय-सूची

जागृति का संदेश

नवयुवकों, जागो

मनुष्य अपनी मुक्ति की चेष्टा के लिये संसार की माया का सम्बन्ध एक बारगी छोड देना चाहता है। वह अपने आत्मीय, स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव की माया सो काटकर संसार से दूर, अत्यन्त दूर भाग जाता है। वह देह के सभी सम्बन्धों, पुराने सभी संस्कारों को त्यागने का प्रयत्न करता है। यही क्यों, वह इस बात को भी भूल जाने का प्रयत्न करता है कि मनुष्य साढ़े तीन हाथ का लम्बा देहधारी जीव है, लेकिन वह अपने भीतर ही भीतर एक मृदु अस्फुट ध्वनि सुन पाता है, उसके कानों के पास एक सुर सर्वदा कहता रहता है, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।' हे भारत की राजधानी के निवासियो, मैं आप लोगों के सामने सन्यासी के रूप में नहीं खड़ा हुआ हूँ, और न धर्म प्रचारक ही के रूप में खड़ा हूँ किन्तु आप लोगों

> मैं कलकत्तावासी बालक रूप में आपके सामने उपस्थित हू

के पास वही पहले की तरह कलकत्तावासी बालक के रूप में खड़ा हूं। हे भाइयो, मेरी इच्छा होती है कि इस नगरी के राज पथ की धूल पर बैठकर बालक की तरह आप लोगों से अपने मन की सब बातें खोल कर कहूँ। इसलिये आप लोगों ने मुझे 'भाई' कह कर सम्बोधन किया है, उसके लिये आप लोगों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। हाँ, मैं आप लोगों का भाई हूँ, आप लोग भी मेरे भाई हैं। पाश्चात्य देशों से लौटने के कुछ ही पहले एक अंग्रेज मित्र ने मुझ से पूछा था कि चार वर्ष तक विलासिता की लीलाभूमि, गौरव मुकुटधारी, महाशक्तिशाली पाश्चात्य देशों में भ्रमण करने के बाद आपकी मातृ भूमि आप को कैसी लगेगी?" मैं बोला, "पाश्चात्य देशों में आने के पहले मैं अपनी मातृ भूमि को प्यार करता था, इस समय इसका कण कण मुझे प्रिय है, भारत की हवा मेरे लिये इस समय पवित्रता से पूर्ण है, भारत इस समय मेरे लिये तीर्थ रूप है।" इसके सिवा और कुछ मैंने नहीं कहा।

हे कलकत्ता के निवासियो, मेरे भाइयो, आप लोगों ने मुझ पर जो कृपा भाव दिखलाया है, उसके लिये कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिये कठिन है। अथवा आप लोगों को धन्यवाद देना ही वाक़ा है। आप लोग मेरे भाई हैं, वास्तव में भाई का ही कार्य किया है। क्योंकि इस तरह का पारिवारिक बन्धन, इस तरह का सम्पर्क, इस तरह का प्रेम मेरी मातृ भूमि की सीमा के बाहर और कहीं पर नहीं है।

यह शिकागो का सर्वधर्म सम्मेलन एक बहुत बड़ी बात हुई है, इस में सन्देह नहीं। भारत के बहुत से नगरों से हम लोगों ने इस सभा के कर्ता धर्ता लोगों को धन्यवाद दिया है। वे लोग हम लोगों के प्रति दया दिखलाने के कारण धन्यवाद के पात्र भी हैं। किन्तु इस धर्म-सम्मेलन का यथार्थ इतिहास अगर आप जानना चाहते हैं यथार्थ उद्देश्य जानना चाहते हैं तो मुझ से सुनो। उन लोगों की इच्छा अपने धर्म का प्रभुत्व स्थापित करने की थी। वहाँ के बहुत से लोगों की इच्छा थी कि ईसाई धर्म का गौरव दिखलाकर दूसरे धर्म का मजाक उड़ाया जाय। कार्य रूप में उन की इच्छा के अनुरूप न होकर अन्य रूप में हुआ। विधि विधान से वैसा न होने का मौक़ा ही नहीं मिला। बहुतों ने हमारे प्रति सदय व्यवहार किया था, उन लोगों को काफ़ी धन्यवाद दिया गया है।

शिकागो धर्म सम्मेलन का यथार्थ इतिहास

वास्तविक बात यह है कि मेरी अमेरिका यात्रा धर्म सम्मेलन के लिये नहीं हुई थी। यद्यपि इस सम्मेलन के द्वारा मेरा रास्ता बहुत कुछ साफ़ हुआ और कार्य को बहुत कुछ सुविधा हुई, इसके लिये मैं भी उक्त महासभा के सभ्यों का विशेष कृतज्ञ हूँ। लेकिन अगर सच बात कही जाय तो हमारे धन्यवाद के पात्र युक्तराज्य के वे सहृदय, अतिथि-सत्कार करनेवाले उन्नतमना अमेरिकन हैं, जिनमें और

सहृदय अमेरिकन जाति

जातियों की अपेक्षा भ्रातृ भाव विशेष रूप से पाया जाता है। किसी अमेरिकन से रेलगाड़ी में पांच मिनट तक भी बात चीत होने से वह आप का मित्र हो जायगा और आपको निमंत्रित करके अपने घर ले जायगा और अपने दिल की बात साफ साफ कह देगा। यही अमेरिकनों का लक्षण है, यही उनका परिचय है। उन्हें धन्यवाद देना हम लोगों का कर्म नहीं है। उनकी हम लोगों पर दया वर्णनातीत है, हम पर उन लोगों ने जैसा अपूर्व दया भाव प्रकट किया था, उसे कहते मुझे बहुत वर्ष लगेगा।

लेकिन केवल अमेरिकनों को ही धन्यवाद देने से न चलेगा, वे जितने धन्यवाद के पात्र हैं, उतने ही धन्यवाद के पात्र अटलाटिक महासागर के दूसरे छोर पर बसे हुए अंग्रेज लोग हैं। अंग्रेज जाति पर मुझ से अधिक घृणा का भाव लेकर कभी किसी ने ब्रटिशद्वीपों में पदार्पण नहीं किया था। इस सैटफार्म पर जो अंग्रेज भाई मौजूद होंगे, वे ही इसका गवाही देंगे। लेकिन जितना ही मैं उनके साथ रहने लगा, उतने ही उनके साथ हिल मिल गया। जितना ही मैं देखने लगा कि
भावों को छिपाने में अंग्रेज जाति का जीवन-यंत्र किस रूप
अभ्यस्त अंग्रेज जाति में परिचालित होता है, ज्यों ज्यों यह
समझने लगा कि इस जाति का यहाँ
पर हृदय स्पन्दित होता है त्यों त्यों उन्हें प्यार करने लगा। और मैं यहा तक कहने का दावा रखता हूं कि यहाँ पर जितने लोग हैं उन में से कोई भी मुझ से अधिक अंग्रेज

जाति को प्यार नहीं करता होगा। उनकी बातों को ठीक ठीक समझने के लिये वहां पर क्या क्या बातें होती हैं, उन्हें देखना, होगा और उनके साथ मिलना भी होगा। हमारे दर्शन शास्त्र, वेदान्त ने जिस प्रकार सब दुःखों का कारण हमारा अज्ञान बतलाया है, उसी प्रकार अंग्रेजों और हम लोगों के बीच का विरोध भाव भी समझना चाहिये। हम लोग उन्हें जानते नहीं हैं और न वे ही हम लोगों को जानते हैं।

दुर्भाग्य से पाश्चात्य देशवासियों की यह धारणा है कि आध्यात्मिकता, यही क्यों, नीति तक सांसारिक उन्नति के साथ सम्बद्ध है। और जभी कोई अंग्रेज या दूसरा कोई पाश्चात्य देशवासी भारतवर्ष में आता है और देखता है कि यहाँ पर दुःख दरिद्र का ही साम्राज्य है तो वह यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि यहाँ पर धर्म को कौन कहे नीति तक भी नहीं है। उनकी जानकारी तो अवश्य ही ठीक है। योरप के शीत प्रधान जल वायु तथा अन्यान्य कारणों से वहां पर दरिद्रता और पाप एकत्र दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु भारतवर्ष के संबन्ध में वह ठीक नहीं है। मेरी अभिज्ञता यह है कि भारतवर्ष में जो जितना ही दरिद्र है, वह उतना ही साधु है, किन्तु इसके समझने में समय लगेगा। कितने विदेशी लोग हैं जो भारतवर्ष के जातीय जीवन के इस गुप्त रहस्य को समझने के लिये दीर्घ काल तक यहाँ पर रह

अज्ञान ही प्राच्य और पाश्चात्य जातियों के आपसी झगड़े का कारण है

कर अपना समय देने को तैयार हूँ ? बहुत थोड़े लोग मिलेंगे जो इस जाति के चरित्र के चरित्र को धैर्य के साथ अध्ययन करने और समझने को तैयार हों। केवल इसी स्थान पर ऐसी जाति रहती है जिसको दरिद्रता और पाप समानार्थी नहीं जान पड़ते। केवल यही नहीं, दरिद्रता को यहाँ पर अत्यन्त उच्च स्थान दिया गया है। यहाँ पर दरिद्र सन्यासी को ही सर्व श्रेष्ठ आसन दिया गया है, इसी प्रकार हम लोगों को भी धैर्य के साथ उनके सामाजिक राजनीति को अध्ययन करना चाहिये। उनके संबंध में यकायक कोई सिद्धान्त ठहरा लेना ठीक नहीं। उनके स्त्री पुरुष का मिलना जुलना तथा अन्यान्य आचार व्यवहारों का अर्थ है सभी अच्छी दशा में है, केवल तुम्हें ही यत्नपूर्वक धैर्य के साथ उनकी आलोचना करनी होगी। मेरा ऐसा कहने का यह भाव नहीं कि हम लोग उनके आचार व्यवहार का अनुकरण करे अथवा वे लोग हम लोगों का अनुकरण करे। सभी देशों के आचार व्यवहार सैकड़ों शताब्दियों से अत्यन्त मन्द गति से विकसित होने का परिणाम है। और सभी का गम्भीर अर्थ है। इसलिये हम लोग भी उनके आचार व्यवहारों का मजाक न उड़ायें और न वे ही लोग हम लोगों की हँसी उड़ायें।

मैं इस सभा के समक्ष और एक बात कहने की इच्छा करता हूँ। मेरी राय में अमेरिका की अपेक्षा इंगलैंड में मेरा प्रचार कार्य अधिक सन्तोष जनक हुआ है। निर्भीक, दृढ, अध्यवसायशील अंग्रेज जाति के मस्तिष्क में यदि कोई एक बार प्रवेश कर

दिया जाता है (उनका मस्तिष्क यद्यपि और जातियों की अपेक्षा स्थूल होता है, सहज ही कोई भाव उसमें प्रवेश नहीं करता, लेकिन यदि प्रयत्न द्वारा उस मे कोई भाव प्रवेश करा दिया जाय) तो वह उनके मस्तिष्क में ठहरता है, कभी बाहर नहीं निकलता, और उस जाति की असीम कार्यकारिणी शक्ति के बल से उस बीज रूपी भाव से अंकुर निकल कर शीघ्र ही फल भी उत्पन्न तो होने लगता है । और किसी देश मे ऐसा नहीं होता । इस जाति मे जैसी अपरिमित कार्य करने की शक्ति है, इस जाति की जैसी अनन्त जीवनी शक्ति है, वैसी और किसी जाति में नहीं पाई जाती । इस जाति में कल्पना शक्ति तो थोड़ी है, पर कार्य करने की शक्ति अथाह है अंग्रेजों के हृदय का गुप्त सोता कहाँ है, उसे कौन जान सकता है ? उनके हृदय के गम्भीर प्रदेश में जो कल्पनायें और भाव छिपे हुए हैं, उसे कौन बतला सकता है ? वह वीरों की जाति है, वे असल क्षत्रिय हैं, उनकी शिक्षा ही भाव को गुप्त रखने की है, वह कभी दिखलाई नहीं पड़ती । लड़कपन ही से उन्होंने यह शिक्षा पाई है । आपको बहुत कम अंग्रेज मिलेंगे जो अपने हृदय के भाव को कभी प्रकट करते हों । केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ तक अपने हृदय के भावों को प्रकट नहीं करतीं । मैंने अंग्रेज रमणियों को ऐसे कार्य करते हुए देखा है, जिसे करने में अत्यन्त साहसी बंगाली भी हिच-

मेरी राय में इंग्लैंड में मेरा प्रचार-कार्य अधिक स्थायी होगा

कॅंगे। किन्तु उस वीरत्व की भी भित्ति के पीछे, इस क्षत्रिय सुलभ कठिनता के अन्तराल में अंग्रेजों के हृदय की भावराशि का सोता छिपा हुआ है। अगर आप एक बार उसके पास पहुँच जाँय, अगर एक बार अंग्रेजों के साथ आप की घनिष्ठता हो जाय, अगर उनके साथ मिलें, अगर एक बार उनसे अपने हृदय का भाव कहलवालें, तो वह आपके चिर मित्र, आपके चिरदास बन जाँयगे। इसी कारण से मेरी राय में, और जगहों की अपेक्षा इंग्लैंड में मेरा प्रचार कार्य अधिक सन्तोष जनक हुआ है। मेरा दृढ विश्वास है कि यदि कल ही मेरा शरीर छूट जाय, तो भी इंग्लैंड में मेरा प्रचार कार्य अक्षुण्ण रहेगा और क्रमश बढता जायगा।

मेरे आचार्य श्रीराम कृष्ण परमहंस

सज्जनो, आप लोगों हमारे हृदय की एक और तंत्री—सब से अधिक गम्भीर तंत्री को आघात किया है। आपने मेरे आचार्य, मेरे जीवन के आदर्श, मेरे इष्ट, मेरे देवता श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम लिया है। अगर मनसा, वाचा कर्मणा, मैंने कोई सत्कार्य किया है अगर मेरे मुँह से ऐसी कोई बात निकली है जिससे किसी व्यक्ति का उपकार हुआ हो तो उसके लिये मेरा कोई गौरव नहीं, वह उन्हीं का है। लेकिन अगर मेरी जिह्वा कभी गाली दे, अगर मेरे मुँह से कभी किसी के प्रति घृणा-सूचक वाक्य या अभिशाप निकले तो उसे मेरा समझना चाहिये, उनका नहीं।

जो कुछ दुर्बलता, दोष मुझ मे दिखलाई पडे, वह सब मेरा है। पर मुझ में जो कुछ जीवन प्रद हो, जो कुछ बलप्रद हो, जो कुछ पवित्र हो, सब उन्हीं की शक्ति का करामात समझना चाहिये। भाइयो, ससार ने अब भी उन नर-देव को पहचाना नहीं है। हम लोग ससार के इतिहास में सैकड़ों महापुरुषों की जीवनियाँ पढते हैं। इस समय हम लोग जिस रूप में उन जीवनियों को पाते हैं, उनमें सैकड़ों वर्षों से उनके शिष्यों के द्वारा बढा चढ़ा रद्दोबदल पाया जाता है। सहस्रों वर्षों से इन प्राचीन महापुरुषों के जीवन चरित को काटकूट, ठीक ठीक करके इस रूप में किया गया है लेकिन तो भी जिस जीवन को मैंने अपने नेत्रों से देखा है, जिसकी छाया मे मैंने निवास किया है, जिसके चरण तले बैठकर सब कुछ सीखा है, उस रामकृष्ण परमहंस का जीवन जितना उज्ज्वल, और महिमापूर्ण है, वैसा और किसी महापुरुष का न होगा ऐसी मेरी धारणा है।

भाइयो, आप सभी गीता में कही हुई भगवान कृष्ण की प्रसिद्ध वाणी को जानते ही होंगे—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहं।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

४—७—८

"जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती

है तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुओं की रक्षा करने और दुष्टों का नाश करने के लिये तथा धर्म की सस्थापना करने के लिए मैं युग युग में जन्म ग्रहण करता हूँ।"

इसके साथ ही और एक बात आप लोगों को समझानी होगी। आज हम लोगों के सामने वैसी वस्तु विद्यमान है। इस तरह की धर्म की धारा प्रबल वेग से आने के पहले समाज मे सर्वत्र छोटी छोटी तरंग परम्पराओं का आविर्भाव दिखलाई पड़ता है। इनमें से एक तरंग—जिसके अस्तित्व का पहले किसी को पता नहीं था, और जिसकी गूढ़ शक्ति के सम्बन्ध में किसी ने स्वप्न में भी कुछ सोचा ही था—क्रमश: प्रबल होती जाती है और दूसरी छोटी छोटी तरंगों को मानो ग्रसित करके अपने में मिला लेती है। इस प्रकार वह बहुत बड़े आकार मे होकर नदी के रूप में परिणत हो जाती है और समाज के ऊपर इस प्रकार गिरती है कि कोई उसके वेग को सँभाल नही पाता। ऐसी ही बात इस समय हो रही है। यदि आप के आँखें हों तो आप उसे देख सकेंगे, अगर आप के हृदय का द्वार खुला है, तो आप उसे ग्रहण करेंगे, अगर आप सत्यान्वेषण के इच्छुक हों तो आप को उसका पता चलेगा। वह पुरुष बिल्कुल अन्धा है जो समय की गति को न देखता है, न समझता है। क्या देख नहीं रहे हो कि दरिद्र ब्राह्मण पिता-माता का दूर का उत्पन्न यह

महाशक्ति के आधार
श्री रामकृष्ण

सन्तान इस समय उन देशों में सचमुच पूजा जा रहा है जो आज सैकड़ों शताब्दियों से मूर्तिपूजा के विरुद्ध गला फाड़ फाड़ कर चिल्ला रहे हैं। यह किसकी शक्ति है ? यह तुम्हारी शक्ति या हमारी ? नहीं, यह किसी की शक्ति नहीं है। जो शक्ति यहाँ पर रामकृष्ण परमहंस के रूप में आविर्भूत हुई थी, यह वही शक्ति है। क्योंकि तुम, हम, साधु, महापुरुष, यहाँ तक कि सारा ब्रह्माण्ड ही शक्ति का विकाश मात्र है, कहीं पर उसका कम विकाश है, कहीं पर अधिक। इस समय हम लोग उस महाशक्ति के खेल का आरंभ मात्र ही देखते हैं। और वर्तमान युग का अन्त होने के पहले ही तुम इस खेल को अत्यन्त आश्चर्य-जनक खेल को प्रत्यक्ष करोगे। भारतवर्ष के पुनरुत्थान के लिये इस शक्ति का विकाश ठीक समय पर ही हुआ है। हम लोग जिस मूल जीवनी शक्ति के द्वारा भारत को सदा जीवित रखेंगे, इस बात को कभी कभी भूल जाते हैं।

प्रत्येक जाति के उद्देश्य सिद्धि करने की भिन्न भिन्न कार्य-प्रणाली होती है। कोई राजनिति, कोई समाज सुधार और कोई दूसरे ही कुछ को प्रधान मानकर कार्य करता है। हम लोगों को धर्म को छोड़कर कार्य करने का दूसरा साधन ही नहीं है। अंग्रेज लोग राजनीति की सहायता से धर्म को समझते हैं। वैसे ही अमेरिकन लोग समाज-सुधार की सहायता से सहज ही धर्म को समझ सकते हैं किन्तु हिन्दू—राजनीति, समाज सुधार तथा और सभी वस्तुओं को धर्म के अन्तर्गत न करने से समझ ही

नहीं सकते हैं। जातीय जीवन सगीत का मानो यही प्रधान सुर है, और सब मानो इसी का परिवर्तित रूप है। इसी के नष्ट होने की आशंका हुई थी। हम लोग मानो अपने जातीय जीवन के इस मूल भाव को हटा कर उसके स्थान में एक और को स्थापित करने जा रहे थे। हम लोग मानो जिस मेरु दंड के बल पर खड़े हैं, उसके स्थान पर एक और खड़ा कर रहे थे, अपने जातीय जीवन के धर्म रूपी मेरु दंड के स्थान पर हम लोग राजनीति रूपी मेरु दंड को स्थापित करने जा रहे थे। यदि हम लोग सफल होते तो इसका फल हम लोगों का सर्वनाश होता। लेकिन यह तो होने वाला नहीं। इसी से इस महाशक्ति का आविर्भाव हुआ था। इस महापुरुष को आप चाहे जिस भाव से देखें, उसे मैं महत्व नहीं देता। उन्हें आप लोग चाहे जितनी श्रद्धा भक्ति से देखें, इससे कुछ नहीं होता जाता। लेकिन मैं आप लोगों से जोर देकर कहता हूँ कि पिछली कई शताब्दियों से भारत में इस प्रकार की अद्‌भुत महाशक्ति का विकाश नहीं हुआ। और आप लोग जब हिन्दू हैं तो इस शक्ति के द्वारा केवल भारतवर्ष ही की नहीं, किन्तु सम्पूर्ण मनुष्य जाति की उन्नति और कल्याण किस तरह हो रहा है, इसे जानने के लिए इस शक्ति के सम्बन्ध में आलोचना करके इसे समझने का प्रयत्न करना कर्तव्य है। संसार के किसी देश में सार्वभौम धर्म तथा विभिन्न सम्प्रदायों में भ्रातृभाव की बात उठने और आन्दोलन होने के बहुत पहले ही इसी नगर के पास ही एक

ऐसा पुरुष था, जिसका सारा जीवन ही एक आदर्श महासभा का स्वरूप था।

सज्जनो, हमारे शास्त्रों ने निर्गुण ब्रह्म ही को हम लोगों का अन्तिम लक्ष्य माना है। और ईश्वर की इच्छा से यदि सभी लोग उस निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होते, तो बड़ा अच्छा होता। लेकिन जब ऐसा सम्भव नहीं तो हम मनुष्य 'जाति के लिए एक सगुण आदर्श के होने से एक दम काम नहीं चल सकता। इस प्रकार किसी आदर्श महापुरुष का विशेष अनुरागी होकर उसके झण्डे के नीचे खड़े हुए बिना कोई जाति उठ नहीं सकती और न बड़ी हो सकती है। यहां तक कि कार्य भी नहीं कर सकती। राजनैतिक, यहाँ तक कि सामाजिक वा व्यापारिक जगत का भी कोई आदर्श पुरुष कभी सर्वसाधारण भारतवासियों के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता। हम लोग चाहते हैं आध्यात्मिक आदर्श। उन्नत अध्यात्म राज्य के पारदर्शी महापुरुषों के नाम पर हम लोग एकत्र सम्मिलित होना चाहते हैं, सभी मत्त होना चाहते हैं। धर्मवीर हुए बिना हम लोग किसी को आदर्श नहीं मान सकते। 'रामकृष्ण परमहंस में हम लोग एक ऐसे ही धर्मवीर—ऐसे ही एक आदर्श को पाते हैं। यदि यह जाति उठना चाहती है, तो मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि इस नाम पर सब को मतवाला होना चाहिये। रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में मैं, तुम या दूसरा

एक सगुण आदर्श की आवश्यकता

कोई कुछ प्रचार करे उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। मैंने इस आदर्श पुरुष को आप लोगों के सामने रखा है। अब विचार करने का भार आप लोगों पर है। इस महान् आदर्श पुरुष को लेकर क्या करेंगे, अपने जातीय कल्याण के लिए, आप लोगों को याद रखना आवश्यक है, आपने जितने महापुरुषों को देखा है, अथवा स्पष्ट करके कहता हूँ, जितने महापुरुषों के जीवन चरित को पढा है, इनका जीवन उन सब से पवित्र था। और यह तो स्पष्ट ही देख रहे हैं कि इस तरह के अत्यन्त अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति के विकाश की कथा आप लोगों ने पढ़ी न होगी, देखने की तो बात ही दूर है। उनको मरे हुए अभी दस वर्ष ही हुए, इतने ही में उस शक्ति ने संसार को ढक लिया है, इसे आप लोग प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। सज्जनो ! इस कारण से हमारे जातीय कल्याण के लिए, हमारे धर्म की उन्नति के लिए कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित होकर मैं इस महान् आध्यात्मिक आदर्श को आपके सामने रखता हूँ। मुझे देख कर उसका विचार न करना। मैं तो एक क्षुद्र प्राणी हूँ। मुझे ही देखकर उनके चरित्र का विचार न करना। उनका चरित्र इतना उन्नत था कि मैं अथवा उनका दूसरा कोई शिष्य यदि सैकड़ों जीवन धारण कर प्रयत्न करे तो भी वह वास्तव में जो कुछ थे, उनके करोड़वें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते। आप ही विचार कीजिए, आपके हृदय में वही सनातन साक्षी रूप से वर्तमान है, और मैं हृदय से प्रार्थना करता हूँ रामकृष्ण परमहंस ने हमारी जाति के

कल्याण के लिए, हमारे देश की उन्नति के लिये, सम्पूर्ण मानव जाति के हित के लिए आपके हृदय को खोल दिया। और हम लोग चाहे कुछ करे अथवा न करें, जो महा युगान्तर अवश्यम्भावी है, उसकी सहायता के लिए आपको निष्कपट और दृढ व्रती करें। आपको अथवा हमें अच्छा लगे अथवा न लगे, इसके बिना ईश्वर का कार्य रुक नहीं सकता। वह साधारण धूल से अपने कार्य के लिए सैकड़ों हजारों कार्यकर्त्ताओं की सृष्टि कर सकते हैं। उनके अधीन रह कर कार्य करना तो हम लोगों के लिए अत्यन्त सौभाग्य और गौरव की बात है।

क्रमश: यह भाव चारों तरफ फैलने लगा है। आप लोगों ने कहा है कि हम लोगों को सम्पूर्ण संसार को जीतना होगा। हाँ, यह तो हम लोगों को करना ही होगा। भारत को अवश्य ही संसार पर विजय प्राप्त करना होगा। इससे नीचे आदर्श से मैं कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। आदर्श भले ही अच्छा हो सकता है, आप लोगों को उसे सुनकर आश्चर्य भी हो सकता है तौ भी इसे ही हम लोगों को अपना आदर्श बनाना पड़ेगा। या तो हम लोगों

हम लोगों का आदर्श सम्पूर्ण जगत पर विजय प्राप्त करना है।

को सम्पूर्ण जगत को जीतना पड़ेगा अथवा मर जाना पडेगा, इसे छोड़ कर दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। विस्तार ही जीवन का चिन्ह है। हम लोगों को क्षुद्रता सकुचितता को छोड़ना पड़ेगा। हृदय का विस्तार करना पड़ेगा, हम लोगों में जो जीवन

है, उसे प्रकट करना पड़ेगा, नहीं तो हम लोग हीनावस्था मे
पड कर नष्ट हो जायँगे, दूसरा कुछ उपाय ही नही है। दो मे
से एक करो, या तो बचो अथवा मरो।

हमारी वैदेशिक नीति
Foreign Policy

आप लोगों से छिपा हुआ नहीं है, कि हमारे देश मे मामूली मामूली बातों को लेकर झगड़ा हो जाता है। लेकिन मेरी बात सुनिए, यही दशा सभी देशों की है। जिन जातियों की रीढ़ राजनीति ही है वे जातियाँ आत्मरक्षा के लिए वैदेशिक नीति का अवलम्बन करती हैं। जब उनके देश में आपस में गृह विवाद आरंभ होता है, तब वे किसी विदेशी जाति के साथ विवाद की सूचना देती हैं, इतने में गृह कलह बन्द हो जाता है। हम में गृह-कलह है, किन्तु उसे रोकने के लिए, कोई वैदेशिक नीति नहीं है। संसार की सभी जातियों में अपने शास्त्रों के सत्य का प्रचार करना ही हम लोगों की वैदेशिक नीति होवे। यह हम लोगों को एक अखंड जाति के रूप में मिला देगा, इसके लिए क्या प्रमाण की जरूरत है? आप लोगों मे से जिन्हें राजनीति में खास दिलचस्पी है, उनसे मैं यह प्रश्न पूछता हूँ। आज की सभा ही इसका सबसे बढ़िया उदाहरण है।

दूसरे इन सब स्वार्थ के विचारों को छोड़ देने पर भी हम लोगों के पीछे निःस्वार्थ, महान जीते जागते उदाहरण हैं।

विदेश में धर्म प्रचार द्वारा ही हमारी संकीर्णता दूर होगी।

भारत के पतन और दुःख दरिद्रता का मुख्य कारण यह है कि उसने अपने कार्यक्षेत्र को संकुचित कर लिया था। वह शामुक की तरह दरवाजा बन्द कर के बैठ गया था, उसने आर्येतर दूसरी सत्य की इच्छा रखने वाली जातियों के लिए अपने रत्नों के भंडार को—जीवन-प्रद सत्यरत्नों के भंडार को—खोला नहीं। हम लोगों के पतन का सब से मुख्य कारण यही है हम लोग बाहर जाकर जातियों के साथ अपनी तुलना नहीं की। आप लोग सभी जानते हैं कि जिस दिन से राजा राममोहन राय ने इस सकीर्णता को दूर हटाया उसी दिन से आज भारत मे जो एक जीवन, जो हलचल दिखलाई पड़ रही है, उसका श्री गणेश हुआ। उसी दिन से ही भारतवर्ष के इतिहास ने अन्य मार्ग अवलम्बन किया है और भारत इस समय क्रमश उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। भूतकाल में यदि छोटी-छोटी नदियां दिखलाई पड़ती थीं तो इस समय वह महानदी के रूप मे परिणत हो गई हैं और कोई उनकी गति को रोक नहीं सकता। इसलिए हम लोगों को विदेश जाना पड़ेगा।

आदान प्रदान ही अभ्युदय का मूल मंत्र है। क्या हम लोग चिरकाल तक विदेशियों के चरण तले बैठकर सब बातें, यहाँ तक कि, धर्म की भी शिक्षा ग्रहण करेंगे? हम लोग उनसे कल, मेशीनरी की बातें तो अवश्य सीख सकते हैं, और भी बहुत सी

बातें उनसे सीख सकते हैं, लेकिन हम लोगों को भी उन्हें कुछ सिखाना होगा। हम लोग उन्हें अपना धर्म, अपनी गम्भीर आध्यात्मिकता सिखायेंगे। संसार पूर्णाङ्ग सभ्यता की इन्तजारी कर रहा है। अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार रूप में भारत ने जो धर्म रूपी अमूल्य रत्न प्राप्त किया है, उसे पाने के लिये संसार सतृष्ण नेत्रों से देख रहा है। हिन्दू जाति सैकड़ों वर्षों से, अवनति और दुर्भाग्य चक्र में पड़ते हुए भी, जिसे अपने हृदय में धारण किये हुए है, संसार उसी की ओर निगाह लगाये हुए है।

पाश्चात्य जातियों से केवल सिखने ही से न चलेगा, कुछ सिखलाना भी होगा

आपके पूर्वजों के उस अपूर्व रत्न राशि के लिये भारत के बाहरी देश वाले किस प्रकार उत्कंठित हैं, इसे आप लोग किस प्रकार समझ सकते हैं? हम लोग यहाँ पर अनर्गल बकते हैं, आपस में झगड़ा करते हैं, जो गम्भीर और श्रद्धा की बातें हैं, उनका उपहास करते हैं। इस समय इस प्रकार का उपहास करना एक जातीय पाप हो रहा है। लेकिन हमारे पूर्वज इस भारत में जो सञ्जीवनी बूटी रख गये हैं, उसके एक कण को पाने के लिये बाहर के देशवासी लाखों स्त्री पुरुष किस प्रकार आग्रह के साथ हाथ बढ़ाये हुए हैं, उसे हम लोग किस प्रकार समझ सकते हैं? इस लिये हम लोगों को भारत के बाहर जाना पड़ेगा। हम लोगों की आध्यात्मिकता के

भारत में घम को

ग्रहण करने के लिये दूसरे देश वाले अत्यंत उत्सुक हैं।

बदले में वे लोग जो कुछ दे सकते हैं, उसे ही ग्रहण करना होगा। चैतन्य राज्य के अपूर्व तत्वों के बदले मे हम लोग जडराज्य के अद्भुत तत्वों को सीखेंगे। चिरकाल तक हम लोगों के शिष्य रहने से न चलेगा, हम लोगों को गुरु भी बनना पड़ेगा। जब तक बराबरी का नहीं होते, तब तक आपस मे मित्रता नहीं होती। और जब तक लोगों का एक समुदाय सदा आचार्य का आसन ग्रहण करता है और दूसरा दल उसके पैरों तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने को उद्यत होता है, तब तक उनमें कभी समानता का भाव नहीं आ सकता। अगर आप लोग अमेरिकनों अथवा अंग्रेजों के समान बनने की इच्छा करते हैं, तो आप लोगों को जैसे उनसे सीखना है, वैसे ही सिखाना भी होगा। और अब भी सैकड़ा शताब्दियों से संसार को सिखाने के लिये आपके पास काफी है। यही इस समय करना पड़ेगा।

भावुक बंगाली जाति ही सारे संसार में धर्म-प्रचार के लिये उपयुक्त है।

इस समय हृदय में उत्साह की आग जलानी होगी। लोग कहते हैं कि बंगाली जाति की कल्पना शक्ति अत्यन्त प्रखर होती है, मैं इस पर विश्वास करता हूँ। लोग भले ही हम लोगों को कल्पना प्रिय भावुक जाति कह कर हम लोगों का मजाक उड़ायें लेकिन भाइयो, मैं आप लोगों से कहता हूँ कि

यह उपहास की बात नहीं है, क्यों कि हृदय के प्रबल उच्छ्वास से ही हृदय में स्फूर्ति पैदा होती है। बुद्धि और विचार शक्ति अच्छी चीज भले ही हो, लेकिन वह दूर तक नहीं जा सकती। भावों से ही गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन होता है। इसलिये भावुक बंगाली जाति के द्वारा ही यह कार्य सिद्ध करना होगा।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" (कठ १। ३। १४)

उठो, जागो, जब तक इच्छित वस्तु प्राप्त न हो, तब तक क्रमश उसके पाने के लिये प्रयत्न करते जाओ। दम न लो।" कलकत्ता वासी नौजवानो, उठो, जागो, क्योंकि शुभ मुहूर्त आ गया है। इस समय सभी बातों की सुविधा हो गयी है। साहस धारण करो, डरो मत। केवल हमारे शास्त्रों में ही भगवान को 'अभी' विशेषण दिया गया है। हम लोगों को 'अभी' निर्भीक होना पड़ेगा। तभी हम लोग कार्य सिद्धि करेंगे। उठो, जागो, तुम्हारी मातृभूमि इस महा बलिदान की इच्छा कर रही है। युवकों के द्वारा ही यह कार्य सिद्ध होगा। "युवा आशिष्ठ, द्रढिष्ठ, बलिष्ठ मेधावी" इन्हीं के द्वारा ही यह कार्य सिद्ध करना होगा। और कलकत्ते में इस प्रकार के सैकड़ों, हजारों नवयुवक हैं। तुम लोगों ने कहा है कि मैंने कुछ कार्य किया है। यदि ऐसी बात है, तो तुम को यह भी याद रखना होगा कि मैं भी एक समय एक नगण्य बालक मात्र था। मैं भी तुम्हारी तरह कलकत्ता की गलियों में घूमता फिरता

कलकत्ता वासी नव युवको, उठो।

था। अगर मैंने इतना किया है, तो तुम लोग मेरी अपेक्षा कितना अधिक कार्य कर सकते हो। उठो, जागो, जगत् तुम्हें आह्वान कर रहा है। दूसरे दूसरे देशों में बुद्धिबल है, धनबल है, लेकिन केवल हमारे ही देश में उत्साहाग्नि विद्यमान है। इस उत्साहाग्नि को प्रज्वलित करना होगा। इसलिये हे कलकत्ता वासी युवको, हृदय में इस उत्साहाग्नि को प्रज्वलित करके जग उठो।

यह ख़याल न करो कि तुम लोग गरीब हो, तुम लोग निरसहाय हो। क्या कभी किसी ने देखा है कि कोई रुपये से मनुष्य बनता है। मनुष्य ही सदा से रुपये बनाता है। जगत में जो कुछ भी उन्नति हुई है, सभी मनुष्य की शक्ति से ही हुई है, उत्साह की शक्ति से ही हुई है, विश्वास की शक्ति से ही हुई है। तुम में से जिन्होंने उपनिषदों में सुन्दर कठोपनिषद को पढ़ा होगा, उन्हें अवश्य ही याद होगा, कि उस राजा ने एक महा यज्ञ का अनुष्ठान कर अच्छी अच्छी चीजों को दक्षिणा मे न देकर बहुत बुड्ढी, वेकार गायों का दान किया। इस उपनिषद में लिखा है कि उस के पुत्र नचिकेता के हृदय मे श्रद्धा ने प्रवेश किया। इस श्रद्धा शब्द का अंग्रेजी मे अनुवाद करने के लिये मैं नहीं कहूँगा। अनुवाद करना गलती होगा। इस अपूर्व शब्द का असली अर्थ समझना बहुत कठिन है। इस श्रद्धा का प्रभाव अत्यन्त प्रबल है। नचिकेता के हृदय में

विश्वास, उत्साह और निर्भीकता से सब कुछ होता है। कठोपनिषद में यम नचिकेता का सम्वाद

श्रद्धा का उदय होते ही क्या फल हुआ उसे देखो। श्रद्धा का उदय होते ही नचिकेता के मन में पैदा हुआ, अनेकों में मैं प्रथम हूँ, अनेकों में मध्यम हूं, अनेकों में अधम कदापि नहीं हूँ। मैं भी कुछ कार्य कर सकता हूँ। उसका इस तरह आत्म-विश्वास और साहस बढ़ने लगा। उस समय जिस समस्या की चिन्ता से उसका मन डाँवाडोल होने लगा, वह उसी मृत्यु तत्व की मीमांसा करने के लिये उद्यत हुए। यम के लोक में गये बिना इस समस्या का और उपाय न था। इसलिये वह यम के घर गया। उस निर्भीक बालक नचिकेता ने तीन दिन तक यम के घर में इन्तजारी की। तुम सभी लोग जानते हो कि किस तरह यम से उसने सभी तत्वों को सीखा। हम लोगों को उसी श्रद्धा की आवश्यकता है। दुर्भाग्य से भारत से यह प्राय लुप्त हो गई है। इसलिये हम लोगों की यह दुर्दशा हो रही है। इसी श्रद्धा को लेकर ही मनुष्य मनुष्य में भेद किया जा सकता है और किसी बात से नहीं। इसी श्रद्धा के अभाव से ही कोई बड़ा कोई छोटा होता है। मेरे आचार्य देव कहा करते थे कि जो अपने को दुर्बल समझता है, वह दुर्बल ही होगा। और यही सच्ची बात है। यही श्रद्धा तुम्हारे भीतर प्रवेश करे। पाश्चात्य जातियों ने जड़ जगत में जो आधिपत्य प्राप्त किया है, वह इसी श्रद्धा के परिणाम स्वरूप ही। वे अपने शारीरिक बल पर विश्वास रखते हैं। और तुम लोग यदि अपने आत्मा में विश्वास रखो तो इसका अद्भुत परिणाम होगा। तुम्हारे शास्त्र, तुम्हारे ऋषि, जो कुछ एक वाक्य में प्रचार करते

हैं, वह है उसी अनन्त शक्ति के आधार अनन्त आत्मा में विश्वास सम्पन्न होना जिसका कोई नाश नहीं कर सकता। उसी आत्मा में शक्तियाँ हैं केवल उन्हें जागृत करने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि यहीं पर अन्यान्य दर्शनों और भारतीय दर्शनों में विशेष भेद है। द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैत वादी, सभी विश्वास करते हैं कि आत्मा ही में सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं। केवल उन्हें व्यक्त करने भर की आवश्यकता है इसलिये मैं उस श्रद्धा को चाहता हूँ। हम सब लोगों के लिये इसकी आवश्यकता है, इस आत्म-विश्वास और इस विश्वास उपार्जन जैसा महान् कार्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है, हमारे जातीय शोणित में एक भयानक रोग का बीज प्रवेश कर रहा है। सब बातों को हँसी में उड़ा देने वाले दोष को बिल्कुल छोड़ देना होगा। वीर बनो, श्रद्धालु बनो, जो कुछ आना होगा, आयगा ही।

मैं तो अभी कुछ कर नहीं सका हूँ, तुम लोगों को ही सब कुछ करना होगा। अगर कल ही मेरा शरीर छूट जाय, उसके साथ ही इस कार्य का अस्तित्व भी लुप्त न होना चाहिये। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जनता में से सैकड़ों हजारों की संख्या में आकर इस बात को ग्रहण करेंगे और इस

मैंने जिस कार्य का सूत्र कार्य में यहाँ तक उन्नति और विस्तार पात किया, उसे युवकों करेंगे कि मैं कल्पना में भी उसकी आशा का पूरा करना होगा नहीं कर सकता था। मैं अपने देश पर

विश्वास करता हूँ विशेष कर देश के युवकों पर। बङ्गाल के युवकों के कन्धे पर अत्यन्त भारी कार्य का बोझा है। आज तक कभी किसी देश के युवकों पर इतना भारी बोझा नहीं पड़ा होगा। मैं पिछले दस वर्षों से भारत में भ्रमण करता आ रहा हूँ, उससे मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि बङ्गाल के युवकों के हृदय से ही यह शक्ति प्रकाशित होगी जिससे वह भारत को उसके उपयुक्त आध्यात्मिक अधिकार दिलायेंगे। मैं निश्चय रूप से कहता हूँ कि इन हृदयवान उत्साही बङ्गाली युवकों में से सैकड़ों वीर निकलेंगे जो हमारे पूर्वजों द्वारा प्रचार किये हुए सनातन आध्यात्मिक सत्यों का प्रचार करके और शिक्षा देकर संसार के एक देश से दूसरे देश तक, एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमेंगे।

जन साधारण में से ही महापुरुष निकलते हैं।

तुम लोगों के सामने यह महान् काम पड़ा हुआ है। इसलिये एक बार फिर तुम लोगों को यह महती वाणी 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' को स्मरण दिलाकर मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ। भय न करो, क्योंकि मनुष्य जाति के इतिहास को देखने से पता चलता है कि जितनी शक्ति संसार में प्रकाशित हुई हैं, वह जनसाधारण में से ही। संसार में बड़े बड़े प्रतिभा सम्पन्न पुरुषों ने जन्म लिया है, वे सभी प्रतिभा-सम्पन्न लोगों में से ही हुए हैं। इतिहास में जो एक बार होता है, वही फिर

घटित होगा। किसी बात से डर न करो। तुम लोग अद्भुत अद्भुत कार्य करोगे। जिस क्षण तुम्हारे हृदय मे भय का संचार होगा उसी क्षण तुम शक्तिहीन हो जाओगे। भय ही सब दुखों का मूल कारण है। भय ही से बडा कुसंस्कार है, निर्भीक होने पर एक क्षण में ही स्वर्ग तक की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये "उत्तिष्ठत प्राप्य वरान्नि-बोधत।"

भाइयो, आप लोगों ने मुझ पर जो अनुग्रह प्रकट किया है, उसके लिये मैं फिर आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ। मैं आप लोगों को यही कहता हूँ कि मेरी इच्छा—मेरी आन्तरिक इच्छा यही है कि मैं संसार की, अपने देश वासियों की यथा-शक्ति सेवा कर सकूँ।

हमारी समर नीति

मेरा सन्देश वाहक का कार्य

सज्जनो, सब दोषों के रहते हुए भी हम लोगों में थोड़ा बहुत साहस रह गया है। भारत से पाश्चात्य देशों में मुझे कुछ संदेश ले जाना था, मैं निर्भय चित्त से अमेरिकन और अंग्रेज जाति के पास सन्देश ले गया हूँ। आज का विषय आरम्भ करने के पहले, मैं आप लोगों से साहस के साथ कुछ बातें कहना चाहता हूँ। कुछ दिनों से कुछ ऐसी बातें हो गयी हैं, जो हमारे कार्य की उन्नति मे विशेष विघ्न बाधा पहुँचाने की चेष्टा कर रही हैं। यहाँ तक कि अगर संभव हो तो हमें पीस डालने के लिए, हमारा अस्तित्व तक मिटा देने के लिए कोशिश करती हैं। परन्तु ईश्वर को धन्यवाद है कि ये सारी कोशिशें बेकार हो गई। और ऐसी कोशिशें हमेशा बेकार ही होंगी। किन्तु पिछले तीन वर्षों से देख रहा हूँ कि कुछ लोगों को हमारे और हमारे कार्य के संबन्ध मे बहुत सी ग़लत धारणायें हो गई हैं। जितने दिन तक मैं विदेश में था, उतने दिन तक मैं चुप लगाया था, यहाँ तक कि एक शब्द भी नहीं कहा। लेकिन अब मैं अपनी मातृभूमि में पहुँच गया हूँ।

इसलिए इस सम्बन्ध मे कुछ बातें कहना आवश्यक प्रतीत होता है। इन बातों का क्या परिणाम होगा, उसकी मैं जरा भी परवा नहीं करता। मैं लोगों के मतामत की तरफ कम ध्यान देता हूँ। चार वर्ष पहले हाथ मे दण्ड कमण्डल लेकर सन्यासी के वेश मे मैं आपके शहर मे आया था। मैं वही सन्यासी हूँ। सारी दुनिया अब भी मेरे सामने पड़ी है।

अब और अधिक भूमिका की आवश्यकता नहीं है। जो मुझे कहना है, उसे ही कहूँगा। पहले थियोसफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध में कुछ बातें मुझे कहनी हैं। यही कहना काफी है कि इस सोसाइटी के द्वारा भारत की बहुत कुछ भलाई हुई है। इसके लिए प्रत्येक हिन्दू ही इनका, विशेषकर मिसेज

थियोसफिकल सोसाइटी

एनी बिसेण्ट का कृतज्ञ रहेगा। मिसेज एनी बिसेंट के सम्बन्ध में यद्यपि मुझे थोड़ा ही ज्ञात है तो भी मैं जो कुछ भी जानता हूँ, उससे मैं समझ गया हूँ कि वह हम लोगों की मातृभूमि की एक सच्ची हितैषिणी हैं और वह अपनी शक्ति भर हमारे देश की उन्नति के लिए प्रयत्न करती रहती हैं। इसके लिए वास्तव में प्रत्येक भारत सन्तान उनके प्रति अनन्त कृतज्ञता के पाश में बँधी है। उनका तथा उनके सम्पर्क में रहने वाले और लोगों का ईश्वर भला करे। किन्तु थिओसिफिस्ट लोगों की सोसाइटी के संबन्ध मे कहने योग्य एक और बात है। भक्ति, श्रद्धा प्रेम एक बात है और कोई व्यक्ति बिना तर्क और विचार के कुछ कहे, दूसरी

बात है। एक बात चारों तरफ फैल रही है कि इङ्गलैण्ड और अमेरिका में मैंने जो कुछ कार्य किया है उसमें थिओसाफिस्ट लोगों ने मेरी सहायता की है। मैं आप लोगों से स्पष्ट शब्दों में कहता हूँ कि यह बात बिल्कुल झूठ है। हम लोग इस संसार में उदार भाव और मतभेद के रहते हुए भी सहानुभूति की लम्बी चौड़ी बातें सुनते हैं। यह अच्छी बात है लेकिन हम लोग कार्य रूप में देखते हैं कि जब तक कोई आदमी दूसरे आदमी की बात पर विश्वास करता है, तब तक वो वह आदमी उसके साथ सहानुभूति रखता है। लेकिन जभी वह किसी विषय में उसके साथ मतभेद प्रकट करता है, उसी समय से सहानुभूति जाती रहती है और प्रेमभाव चला जाता है।

कितने ऐसे व्यक्ति हैं जिनका अपना कोई न कोई स्वार्थ रहता है। अगर किसी देश में ऐसी कुछ बात हो जिससे उनके स्वार्थ में बाधा पहुँचे तो उनके हृदय में अधिक से अधिक ईर्ष्या और घृणा पैदा होती है। उस समय वे क्या करेंगे, कुछ सोच नहीं सकते। हिन्दू लोग अपना घर खुद साफ करने की चेष्टा करते हैं, उसमें ईसाइयों को क्या नुकसान है? हिन्दू लोग प्राणपण से अपने सुधार की कोशिश करते हैं, उससे ब्राह्म समाज तथा अन्यान्य सुधारक सभाओं को क्या हानि पहुँचेगी? हिन्दुओं के सुधार चेष्टा का प्रतिद्वन्दी ये क्यों बनेंगे? ये लोग क्यों इन सब आन्दोलनों के प्रबल शत्रु

ब्राह्म समाज और मिशनरी

हो जायँगे ? मैं यह प्रश्न पूछता हूँ। मुझे जान पड़ता है कि उनकी घृणा और ईर्ष्या का परिमाण इतना अधिक है कि इस विषय में उनसे कोई प्रश्न करना बिल्कुल निरर्थक है।

अब पहले थियोसफिस्ट लोगों की बातें कहता हूँ। मैं चार वर्ष पहले थिओसफिकल सोसाइटी के नेता के पास गया था। उस समय मैं एक दरिद्र सन्यासी था, कोई मेरा भाई बन्धु नहीं था, सात समुद्र तेरह नदी पार करके मुझे अमेरिका जाना था, लेकिन मेरे पास कोई परिचय पत्र तक न था। मैंने स्वभावतः सोचा कि जब अमेरिकन है और भारत के प्रति भक्ति रखते हैं, तो वह सम्भवतः अमेरिका के किसी व्यक्ति के नाम परिचय पत्र देंगे। किन्तु उनके पास जाकर परिचय पत्र माँगने का नतीजा यह हुआ कि उन्होंने पूछा कि क्या आप मेरी सोसाइटी में शामिल नहीं हो जायँगे ? मैंने उत्तर दिया, नहीं, मैं आपकी सोसाइटी में शामिल नहीं हो सका। 'क्योंकि मैं आपके मत मे विश्वास नहीं करता। उन्होंने कहा, "तब जाओ, मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सकता।' क्या मेरे लिये यही रास्ता साफ करना कहा जा सकता है ? मेरे थियोसफिस्ट भाइयों में से कोई हो तो मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या मेरे लिए यही रास्ता करना कहा जा सकता है ? जो हो, मैं मद्रास के कुछ मित्रों की सहायता से अमेरिका पहुँचा। उनमे से बहुत यहाँ पर उपस्थित हैं। केवल एक सज्जन अनुपस्थित हैं। वह है जज सुब्रह्मण्य ऐय्यर। मैं इन सज्जन के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

उनमें प्रतिभाशाली पुरुष की अन्तर्दृष्टि विद्यमान है। मैंने अपने जीवन में उनका सा विश्वासपात्र मित्र नहीं पाया। वह भारत माता के एक सच्चे पुत्र हैं। अस्तु! मैं अमेरिका पहुँचा। मेरे पास रुपया बहुत कम था और सर्व धर्म सम्मेलन आरम्भ होते होते मेरे पास जो कुछ था खर्च हो गया। इधर जाड़े की ऋतु आई। मेरे पास गर्मी के सूती कपड़े थे। एक दिन सर्दी के मारे मेरे हाथ बिल्कुल ठिठुर गये। इस अत्यन्त शीत प्रधान देश में मैं क्या करूँ, यह सोच नहीं पाता था। इसका कारण यह था कि यदि मैं रास्ते में जाकर भीख माँगता, तो मुझे जेल की हवा खानी पड़ती। मेरे पास इतने ही पैसे रह गए थे कि उनसे मैं मद्रास के मित्रों को तार दे सकता था। थियोसफिस्टों को मेरी यह अवस्था मालूम हो गई। उनमें से एक ने लिखा, "अब शैतान शीघ्र मरेगा, ईश्वर की इच्छा से बँच गया था।" क्या यही मेरे लिये रास्ता खोलना कहा जा सकता है? मैं इस समय ये सब बातें न कहता, लेकिन आप लोगों ने जबर्दस्ती मुझ से कहवा ही लिया। मैंने तीन वर्षों से इस विषय में कुछ नहीं कहा। चुप्पी साधना ही मेरा मूल मन्त्र था। लेकिन आज यह मेरे मुँह से निकल ही पड़ा। सिर्फ यही नहीं। मैंने सर्व धर्म सम्मेलन में कई थियोसफिस्टों को देखा। मैं उनसे बात चीत करने तथा मिलने जुलने की कोशिश करता। लेकिन वे लोग मेरी तरफ जिस अवज्ञा भरी निगाह से देखते, वह मुझे अब भी याद है।

उनकी अवज्ञा भरी दृष्टि मानो यही प्रकट करती थी कि यह तुच्छ कीट पतंग है यह देवताओं के बीच में कहाँ से कूद पड़ा। आप ही बताइये, क्या इससे अधिक मेरे लिये रास्ता खोलना और क्या कहा जा सकता है? जो हो, सर्व धर्म सम्मेलन में मेरा नाम तो गया। तब से तो मुझ पर काम का बोझा ही आ पड़ा। मैं जिस शहर में जाता वहीं पर ये थिओसफिस्ट लोग मुझे दबाने की कोशिश करते। वह अपनी सोसाइटी के मेम्बरों को मेरा व्याख्यान सुनने से मना करते, अगर कोई मेम्बर मेरा व्याख्यान सुनने को आता तो उस पर खूब फटकार पड़ती। क्योंकि इस सोसाइटी का यह (ऐसोटेरिक) गुप्त रहस्य है कि जो कोई उसमें योग देगा उसे केवल कुथुमी और मोरियर (वे जो कोई भी हों) से शिक्षा लेनी पड़ेगी। उनके अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष प्रतिनिधि हैं मि० जज और मिसेज बिसेंट। इसलिये ऐसोटेरिक विभाग में योग देने का अर्थ यह है कि अपने स्वतंत्र विचारों को एक बारगी तिलाजलि देकर बिल्कुल उसके हाथों में आत्मसमर्पण करना। मैं ऐसा नहीं कर सकता था और जो कोई ऐसा करे उसे मैं हिन्दू नहीं कह सकता। इसके बाद स्वयं थिओसफिस्ट लोगों में ही गड़बड़ी मची। मेरी स्वर्गीय जज में बड़ी श्रद्धा है। वह गुणवान, सरल, निरच्छल प्रतिवादी थे, वही थिओसफिस्टों के प्रतिनिधि थे। उनके साथ एनी बिसेण्ट का जो विरोध था, उस सम्बन्ध में अपनी कोई राय जाहिर करने को मुझे कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि दोनों ही अपने

अपने 'महात्मा' के वाक्य को सत्य सिद्ध करने का दावा रखते थे। और आश्चर्य की बात तो यह है कि दोनों ही एक ही महात्मा के दावेदार थे। ईश्वर जाने, सत्य क्या है। वही एक मात्र विचारक हैं और जहाँ पर दोनों पक्ष के प्रमाण का पलड़ा बराबर हो वहाँ किसी को किसी एक तरफ होकर राय देने का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार वे दो वर्ष तक सम्पूर्ण अमेरिका में मेरे लिये रास्ता तैयार करते रहे। इसके बाद वे दूसरे विरोधी पक्ष ईसाइयों से मिलने लगे। इन ईसाइयों ने मेरे विरुद्ध में ऐसी झूठी झूठी बातें लोगों में फैलाई थीं, जो कल्पना में भी नहीं आ सकतीं। वे प्रत्येक घर से मुझको खदेड़ने का प्रयत्न करने लगे और जो कोई मेरा मित्र बनता, उसी को मेरा शत्रु बनाने की कोशिश करते। वे सभी अमेरिकनों से कहने लगे कि इसे लाठी मारकर भगा दो और भूखों मार डालो। मुझे यह कहते हुए बहुत शर्म मालूम होती है कि हमारे देश के रहने वाले एक व्यक्ति भी इसमें शामिल थे। वह भारत के एक सुधारक और नेता कहलाते हैं। यह हर रोज कहते फिरते हैं कि ईसा मसीह भारत में आये हैं। ईसा मसीह क्या इसी तरह भारत में आयँगे? क्या यही भारत के सुधार का उपाय है? मैं इन्हें बचपन से ही जानता हूँ, यह मेरे परम मित्र थे बहुत

अमेरिका में मेरे , वर्षों तक मेरे साथ मेरे देश वासी मित्र विरोधी दल के मेरे की मुलाकात नहीं हुई थी, इसलिये उन्हें

देशवासी मित्र का मिलना

देखकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ, मानो बैठे बिठाये मुझे स्वर्ग मिल गया। किन्तु उन्होंने ही मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया! जिस दिन सर्व धर्म-सम्मेलन मे मैं प्रशंसा का पात्र समझा गया, जिस दिन चिकागो में मैं लोक-प्रिय हुई उसी दिन से ही—उसी दिन से उनका सुर बदल गया और वह छिपे तौर पर मेरा अनिष्ट करने, मुझे भूखों मार डालने तथा अमेरिका से लाठी के बल खदेड़ देने की जी जान से कोशिश करने लगे। मैं पूछता हूँ, क्या इसी तरह से ईसा मसीह भारत में आयेंगे? मैं पूछता हूँ बीस वर्ष तक ईसा के चरणों तले बैठकर क्या हमने यही शिक्षा पाई है? हमारे बडे बड़े सुधारक कहते हैं कि ईसाई धर्म और ईसा की शक्ति भारत का कल्याण करेगी, वह क्या इसी प्रकार होगा? हाँ, अगर उक्त सज्जन को उदाहरण स्वरूप पेश किया जाय तब तो कोई आशा नहीं दिखलाई पड़ती।

और एक बात है। मैंने समाज सुधारकों के मुख पत्र में पढ़ा कि उनका कहना है कि मैं शूद्र हूँ वे मुझसे पूछते हैं कि

शूद्र और संन्यास

शूद्र को सन्यासी होने का कहाँ अधिकार है। इसके लिये मेरे पास यह जवाब है कि अगर आप लोग अपने पुराणों में विश्वास रखते हैं तो आपको जानना चाहिये कि मैं उसी महापुरुष का वंशधर हूँ जिसके चरणों में प्रत्येक ब्राह्मण 'यमाय धर्मराजाय चित्रगुप्ताय वै नमः' मन्त्र उच्चारण करके फूल चढ़ाता

है, और जिसके वंशधर शुद्ध क्षत्रिय हैं। ये बङ्गाली सुधारक यह समझे रहे हैं कि मेरी जाति कई उपायों से भारत की सेवा के अतिरिक्त सैकड़ों शताब्दियों से भारत पर आधा शासन करती रही है। अगर मेरी जाति को निकाल दीजिये तो भारत की आधुनिक सभ्यता का कितना अंश रह ही जाता है। केवल बङ्गाल में ही मेरी जाति से सर्व-श्रेष्ठ दार्शनिक, सर्व-श्रेष्ठ कवि, सर्व-श्रेष्ठ ऐतिहासिक, सर्व-श्रेष्ठ पुरातत्व-विद् और सर्व-श्रेष्ठ धर्मप्रचारक निकले हैं। उक्त सम्पादक को अपने इतिहास को जानना उचित था। हमारे तीन वर्णों के सम्बन्ध में उन्हें जानना मुनासिब था—उन्हें जानना चाहिये था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णों को सन्यासी होने का समान अधिकार है। तीनों वर्णों को वेद में समान अधिकार है। ये सब बातें प्रसंग पड़ने पर मुझे कहनी पड़ी हैं। मैंने उपरोक्त श्लोकांश केवल उद्धृत भर किया है, मुझे शूद्र कहने का कोई दुःख नहीं है। हमारे पुरुखों ने दरिद्रों पर जो अत्याचार किये थे, यह उसी का थोड़ा सा प्रतिशोध स्वरूप है।

अगर मैं अत्यन्त नीच चाडाल होता तो मुझे और भी अधिक आनन्द होता, क्योंकि मैं जिनका शिष्य हूँ एक श्रेष्ठ होने पर भी उन्होंने एक नीच जाति का घर साफ करने की इच्छा प्रकट की। वह आदमी इसके लिये राजी नहीं होता था, अब क्या किया जाय? एक तो यह ब्राह्मण, दूसरे सन्यासी, वह आकर घर साफ करे, इसके लिए वह भला किस

ब्राह्मण संन्यासी और चाडाल

तरह राजी हो सकता? इसलिए वह सन्नाटे की आधी रात को चुपके से उसके घर में घुस कर उसका पैखाना साफ करते और अपने बड़े बड़े बालों से उस स्थान पर झाड़ू लगाते। वह हर रोज ऐसा ही करने लगे जिससे वह अपने को सबका दास, सब का सेवक बना सकें। उसी व्यक्ति के श्री चरण मैंने अपने मस्तक पर रखे हैं वही मेरे आदर्श हैं, मैं उसी आदर्श पुरुष के जीवन का अनुकरण करने की कोशिश करूँगा।

हिन्दू लोग इसी तरह से आप लोगों तथा सर्वसाधारण की उन्नति की चेष्टा करते हैं। और वे इसमें विदेशी भावों की जरा भी सहायता नहीं लेते। बीस वर्ष तक पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग में रहने से इस तरह का चरित्र गठित हुआ है कि मित्र का कुछ नाम हो गया, वह उनके धन कमाने के रास्ते में विघ्न रूप हो गया है, यह समझ कर उसे भूखों मारने की कोशिश करने लगे। सच्चा पुराना हिन्दू धर्म किस तरह काम करता है, यह उनका दूसरा उदाहरण है। हमारे समाज सुधारकों में किसमें वह जीवन दिखलाई पड़ता है। अगर कोई 'नीच जाति' का पैखाना साफ करने और उसे अपने बालों से झाड़ू लगावे तो मैं उसके चरणों में अपने मस्तक रख दूँगा। उसका उपदेश सुनने को तैयार हूँगा। लेकिन इसके पहले नहीं। हजारों लम्बी चौड़ी बातों से एक काम का मूल्य कहीं अधिक है।

सच्चे हिन्दू और सुधारक

अब मैं मद्रास की सुधारक सभाओं की कथा कहूँगा। उन्होंने मेरे प्रति बड़ी दयालुता का व्यवहार किया है। उन्होंने मेरे लिये बड़ी मीठी मीठी बातें कही हैं। और बंगाल प्रान्त और मद्रास प्रान्त के सुधारकों में जो भेद है, इस सम्बन्ध में मेरा ध्यान आकर्षित किया है। और इस विषय में मैं उनके साथ सहमत हूँ। आप में से बहुतों को याद होगा कि मैंने आप लोगों से कई बार कहा है कि इस समय मद्रास की बड़ी सुन्दर अवस्था है। बंगाल में जिस तरह क्रिया प्रतिक्रिया होती रही है, यहाँ पर वैसा नहीं है। यहाँ पर बराबर धीरे धीरे निश्चित गति से सभी बातों में उन्नति होती रही है, यहाँ पर क्रमश समाज का विकास हुआ है, किसी तरह की प्रतिक्रिया नहीं हुई है। कई स्थानों पर और बहुत परिमाण में बंगाल प्रांत की उन्नति हुई कहा जा सकता है, किन्तु मद्रास में धीरे धीरे स्वाभाविक तरह से उन्नति हो रही है। इसलिए यहाँ के सुधारक लोगों ने दोनों जातियों में जो भेद दिखलाया है, इस विषय में मैं उनसे बिल्कुल सहमत हूँ। लेकिन मेरे साथ एक बात मे उनका मतभेद है, इसे उन्होंने समझा नहीं है। मुझे आशंका होती है कि बहुत सी सुधारक सभायें मुझे डरा कर अपना साथ देने के लिए कोशिश करती हैं। उनके लिए ऐसा कोशिश करना बड़े आश्चर्य की बात है। जो व्यक्ति चौदह वर्ष तक अन्नाहार और मृत्यु के साथ युद्ध करता

मद्रास की सुधारक सभायें

रहा है, जिस आदमी के लिए इतने दिन तक कल क्या खाऊँगा, कहाँ सोऊँगा, इसका कोई ठिकाना नहीं रहा है, उसे इतनी जल्दी भय दिखाना सहज नहीं है। जो व्यक्ति बिना काफी कपडे के तापमान यंत्र के शून्य अंश से ३० अंश नीचे की ठंडक मे रहने का साहस कर चुका है, जिसको वहाँ भी कल क्या खाना मिलेगा, इसका भी ठिकाना न था, उसे भारत मे इतना जल्दी भय नहीं दिखाया जा सकता। मैं उनसे पहले ही कहना चाहता हूँ कि वे समझे रहें, मुझ मे थोड़ी बहुत दृढता है, मुझे थोड़ी बहुत जानकारी भी है और संसार के लिए मुझे कुछ सन्देश देना है। मैं निर्भय होकर और भविष्य की कुछ चिन्ता न कर उस संदेश को पहुँचाऊँगा।

सस्कारकों से मैं कहना चाहता हूँ कि मैं उनसे बढ कर सुधारक हूँ। वे एक आध सुधार करना चाहते हैं, मैं आमूल सुधार चाहता हूँ। हम लोगों में भेद केवल प्रणाली मे है। उनकी प्रणाली तोड़ फोड़ करना है और मेरा संगठन है। मैं संस्कार मे विश्वास नहीं करता, मैं स्वाभाविक उन्नति मे विश्वास रखता हूँ। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर बैठाकर समाज को 'इधर तुम्हें चलना होगा, उधर नहीं।' ऐसा आदेश देने का मैं साहस नहीं करता। मैं गिलहरी की तरह होना चाहता हूँ जिसने रामचन्द्र के सेतु बाँधने के समय अपनी शक्ति भर एक अँजुल बालू डाल कर अपने को

मेरे सुधार की प्रणाली विनाश नहीं सङ्गठन है

कृतार्थ समझता था। यही मेरा भाव है। यह अद्भुत जातीय यन्त्र सैकड़ों शताब्दियों से कार्य करती आ रही है, यह जातीय जीवन नदी हम लोगों के सामने बह रही है, कौन जानता है, कौन साहस करके कह सक्ता है कि यह अच्छा है या बुरा, और किस तरह से उसकी गति का नियमित होना उचित है। हजारों घटना चक्रों ने उसे विशेष रूप से वेग प्रदान किया है, इसी से समय समय पर वह तेज और मन्द चाल वाली हो जाती है। कौन उसकी गति को नियमित करने का साहस कर सकता है? गीता के उपदेशानुसार हम लोगों को सिर्फ काम करना होगा फलाफल की ओर जरा भी निगाह न डालकर शान्त चित्त से रहना होगा। उसकी पुष्टि के लिए जो आवश्यक है, वह उसे दिये जाओ, लेकिन वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपनी देह को गठित कर लेगा, किसी मे यह शक्ति नहीं कि वह यह हुक्म देवे कि इस तरह से तुम अपनी देह का गठन करो।

पाश्चात्य और प्राच्य समाज दोनों में गुण दोष मौजूद हैं

हम लोगों के समाज में काफी दोष हैं। अन्यान्य समाज में भी ऐसा ही है। यहा पर विधवाओं की आसुओं से कभी वहाँ पाश्चात्य देश की वायु अनूढा कुमारियों के दीर्घ निश्वास से विषाक्त हो रहा है। यहाँ जीवन दरिद्रता के विष से जर्जरित है, वहाँ विलासिता के अवसाद से सारी जाति जीते ही मुर्दा हो रही है। यहाँ

लोग बिना खाये आत्महत्या कर रहे हैं, वहाँ खाने पीने की सामग्री की इतनी ज्यादती होने पर भी वे आत्महत्या करते हैं। सभी जगह पर दोष मौजूद हैं। यह पुराने वात रोग की तरह है। पाँव से वात दूर होने पर सिर में समा जाता है वहाँ से दूर करने पर फिर वहीं पकड़ लेता है। केवल यहाँ से वहाँ ही उसे हटाया जा सकता है। हे बालको, अनिष्ट का मूलोच्छेद करना ही असली उपाय है।

शुभाशुभ नित्य संयुक्त है

हमारे दर्शन शास्त्रों में लिखा है कि अच्छाई बुराई नित्य संयुक्त है, एक ही वस्तु के भिन्न २ रूप हैं। एक को लेने पर दूसरे को भी लेना होगा। समुद्र में एक तरङ्ग उठे, तो समझना होगा कि कहीं न कहीं जल कम होगा। केवल यही नहीं, सारा जीवन दुःखमय है। किसी न किसी की हत्या किये बिना सास तक नहीं ली जा सकती। एक टुकड़ा खाने पर भी किसी न किसी को उससे वंचित करना होगा। यही प्रकृति का अकाट्य विधान है, यही सच्चा दार्शनिक सिद्धान्त है।

सामाजिक व्याधि का प्रतिकार है शिक्षा, जबरदस्ती सुधार की चेष्टा नहीं हो सकती

इस कारण से हम लोगों को समझना होगा कि सामाजिक व्याधि को हम बाहरी प्रयत्नों से दूर नहीं कर सकते, मन के ऊपर प्रभाव डालने से ही सुधार हो सकता है। हम लोग चाहे जितनी लम्बी चौड़ी बातें क्यों न करें, लेकिन जब तक हम लोग

कार्य रूप में उसे परिणत न करें तब तक कुछ लाभ न होगा। हमें समाज के दोषों को दूर करने के लिये प्रत्यक्ष रूप से प्रयत्न न कर शिक्षा के द्वारा परोक्ष भाव से उसके लिये प्रयत्न करना होगा। समाज संशोधन के सम्बन्ध में पहले इस तत्व को समझ लेना होगा। इस तत्व को समझ कर अपने मन को शान्त करना होगा। इसे समझ कर अपने रक्त को गर्म न करना होगा—हमको उत्तेजना-रहित होना होगा। संसार का इतिहास भी हमको शिक्षा देता है कि जहाँ कहीं इस तरह की उत्तेजना की सहायता से किसी तरह के सुधार का प्रयत्न किया गया है, उसका फल यह हुआ है कि जिस उद्देश्य से सुधार का प्रयत्न किया गया है, वही उद्देश्य विफल हुआ है। अमेरिका में दासत्व प्रथा के नाश के लिये जो युद्ध हुआ था, उससे बढ कर मनुष्य के अधिकार और स्वाधीनता की रक्षा के लिये घोर आन्दोलन की कल्पना नहीं की जा सकती। आप लोग इसे अच्छी तरह जानते ही होंगे। लेकिन इसका फल क्या हुआ है? दास व्यवसाय का नाश होने के पहिले उनकी जो दशा थी, उससे सौ गुना खराब उनकी दशा हो गई है। गुलामी की प्रथा के बन्द होने के पहले ये अभागे निग्रो व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति समझे जाते थे। अपनी सम्पत्ति की हानि के डर से दुर्बल और अकर्मण्य न हो जॉय, इसकी तरफ गोरे मालिक सदा ध्यान रखते थे। लेकिन अब वे किसी की सम्पत्ति नहीं। उनके जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं समझा जाता है। उन्हें पकड़ कर जीते जी जला दिया है,

कहीं गोली मार दी जाती है। ऐसा करने वाले को दण्ड देने के लिये कोई भी कानून नहीं है। क्योंकि वे काले है, वे मनुष्य नहीं समझे जाते, यहां तक कि वे पशु कहलाने के भी योग्य नहीं समझे जाते। कानून द्वारा अथवा अत्यन्त उत्तेजना पूर्ण आन्दोलन के द्वारा किसी सामाजिक बुराई को दूर करने की कोशिश करने से कोई लाभ नहीं हो सकता।

अगर उत्तेजना में भर कर किसी शुभ कार्य को सिद्ध करने के लिये भी आन्दोलन किया जाय तो इतिहास मे ऐसे आन्दोलन के विरुद्ध भी प्रमाण हैं। मैंने इसे देखा है, मैंने अपने अनुभव से इसे सीखा है। इसी कारण से मैं इस तरह दोपारोपण करने वाली किसी सभा सोसाइटी को मैं सहायता नहीं देता। दोपारोपण करने वा निन्दा करने से क्या लाभ? सभी समाजों में दोष हैं। सभी इसे जानते हैं। आज कल के छोटे बच्चे तक इसे जानते हैं। वे सभा मच पर खड़े होकर हिन्दू समाज के बड़े २ दोषों के सम्बन्ध मे हम लोगों को व्याख्यान सुना सकते हैं। जो कोई मूर्ख विदेशी भूप्रदक्षिण करने के लिये भारत मे आता है और रेलगाड़ी द्वारा एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम जाता है, वह भारतवर्ष के सम्बन्ध में पक्की धारणा बना कर भारत की भयानक, अनिष्टकर प्रथाओं के विरुद्ध खूब पाडित्य-पूर्ण वक्तृता देने लगता है। हम लोग उनकी बातों को वेद-वाक्य

दोष दिखलाने वाले बहुत हैं, उसे दूर करने वाले कितने हैं!

समझ लेते हैं। दोष तो सभी दिखला सकते हैं, लेकिन मनुष्य जाति के यथार्थ में वे ही मित्र हैं, जो इस समस्या को हल करने का रास्ता दिखलाते हैं। पानी में डूबते हुए बालक और दार्शनिक की कहानी को आप लोगों ने सुना ही होगा। जब बालक पानी में डूबने लगा तो दार्शनिक महाशय गम्भीरता के साथ उसे उपदेश देने लगे, तब बालक ने कहा, 'पहले आप मुझे जल में से निकालिये, तब आप का उपदेश सुनूँगा' इसी तरह से इस समय हमारे देश के लोग चिल्ला कर कहते हैं, हम लोग काफ़ी व्याख्यान सुन चुके, पत्र पत्रिकायें खूब पढ़ चुके, अब हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो हमारे हाथ पकड़ कर इस दलदल से निकाल लेवें। ऐसे लोग कहाँ हैं? ऐसे लोग कहाँ हैं जो हमें वास्तव में चाहते हैं? ऐसे लोग कहाँ हैं जो हमसे सहानुभूति रखें? हमें ऐसे ही लोगों की आवश्यकता है। यहीं पर मेरा इन सुधारवादी आन्दोलनकारियों से मेरा मतभेद है। प्रायः सैकड़ों वर्ष से यह सुधार का आन्दोलन चल रहा है। लेकिन इससे अत्यन्त निन्दा और द्वेष पूर्ण साहित्य की सृष्टि को छोड़कर और क्या हुआ है? अगर ऐसा आन्दोलन खड़ा न होता, वही अच्छा था। वे प्राचीन समाज की बड़ी कड़ी आलोचना करते हैं, उसपर खूब दोषारोपण करते हैं, उनकी भरपेट निन्दा करते हैं। मानो प्राचीन समाज ने उनका सब कुछ नष्ट कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सब देशी भाषाओं में एक ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई है जिससे सारी जाति

और देश का सिर नीचा होना उचित है। क्या यही सुधार है? क्या यही सारी जाति को गौरवान्वित करनेवाला मार्ग है? यह किसका दोष है?

इसके बाद और एक गंभीर विषय की विवेचना करनी होगी। यहाँ पर भारत मे हम लोग चिरकाल से राजशासन के अधीन रहते आये हैं, राजाओं ने ही हम लोगों के लिये सदा नियम क़ानून बनाये हैं। अब वे राजे नहीं रहे, अब इस विषय मे आगे बढने के लिये कोई रास्ता दिखलानेवाला नहीं रहा। गवर्नमेंट साहस नहीं करती। गवर्नमेंट को सर्व-साधारण का मतामत देख कर अपनी कार्य-प्रणाली स्थिर करनी पड़ती है। लेकिन अपनी समस्या को हल करने तथा सर्व साधारण के कल्याण के लिये प्रबल मत बनाने में समय लगता है, काफी समय लगता है। ऐसा मत बनने तक हम लोगों को ठहरना पड़ेगा। इस प्रकार सारी समाज-सुधार की समस्या यों है—'जो सुधार चाहता है, वह कहाँ है, पहले उसे तैयार करो। सुधार चाहने वाले लोग कहाँ हैं? कुछ थोड़े से लोगों को दोष मालूम पड़ता है, परन्तु अधिकांश लोगों ने अब भी नहीं समझा है। इस समय ये अल्प संख्यक लोग जबर्दस्ती और सब लोगों के ऊपर अपने इच्छानुसार सुधार लादना चाहते हैं, इससे बढ़ कर और

यहाँ पर नियम बनाने वाले स्वधर्मावलम्बी राजा नहीं रहे, अब लोक शक्ति के गठित करने की आवश्यकता है

कौन सा अत्याचार हो सकता है। कुछ थोड़े से लोगों के दोष मालूम होते ही वह सारी जाति के हृदय को स्पर्श नहीं करता। पहले सारी जाति को शिक्षा दो, व्यवस्था बनाने के लिये एक दल सगठित करो, विधान अपने आप आ जायगा। पहले जिस शक्ति बल से, जिसकी सहायता से विधान गठित हो, उसकी सृष्टि करो। इस समय वे राजा नहीं रह गये। जिस नूतन शक्ति से जिस नये सम्प्रदाय की सम्मति से नई व्यवस्था बनाई जायगी, वह लोक-शक्ति कहाँ है? पहले वह लोक-शक्ति गठित करो। इसलिये समाज सुधार के लिये पहला कर्तव्य लोक शिक्षा है। यह शिक्षा जब तक पूरी न हो तब तक ठहरना पड़ेगा।

पिछली शताब्दी में सुधारों के लिये जो आन्दोलन होते रहे हैं, वे अधिकतर दिखाऊ हैं। ये सुधार पहले दो वर्ण को स्पर्श करते हैं, अन्य वर्णों को नहीं। विधवा विवाह के आन्दोलन से सैकड़ा पीछे ७० स्त्रियों को कोई सम्बन्ध नहीं। और इस तरह के सभी आन्दोलन सर्व साधारण को वंचित करके (इस पर ध्यान दें) जितने भी उच्च वर्ण के भारतीय शिक्षित हुए हैं, उन्हीं के लिये हैं। वे अपने घर को साफ रखने और विदेशियों की दृष्टि मे अपने को सुन्दर दिखलाने में कुछ भी त्रुटि नहीं करते। इसे सुधार नहीं कहा जा सकता। सुधार करते समय केवल ऊपर ऊपर देखने से काम नहीं चलेगा, भीतर प्रवेश करना होगा, जड़ तक समा जाना होगा। इसे ही मैं आमूल सुधार,

आमूल सुधार

असली सुधार कहता हूँ। जड में आग लगाओ, जिससे यह आग क्रमश ऊपर बढ़ते बढ़ते एक पूर्ण भारतीय जाति का संगठन करे।

यह समस्या बहुत आसान नहीं है। यह बड़ी गम्भीर समस्या है। इसलिये घबड़ाने की बात नहीं। और यह भी स्मरण रखें कि गत कई शताब्दियों से इन समस्याओं के सम्बन्ध में हम लोगों के देश के महापुरुषों को काफी ज्ञात था। आजकल खास कर दक्षिण में बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्म के अज्ञेयवाद के सम्बन्ध मे आलोचना की एक प्रथा चल पड़ी है। वे स्वप्न में भी कभी सोचते नहीं कि हमारे समाज मे जो सब दोष हैं, वे बौद्ध धर्म के कारण हैं। बौद्ध धर्म ने आकर हम लोगों को उत्तराधिकार रूप में इस अवनति का भागी बना दिया है। जिन्होंने बौद्ध धर्म की उन्नति और अवनति के इतिहास को कभी पढ़ा नहीं है, उनकी लिखी हुई पुस्तकों में आप पढ़ते हैं कि महात्मा बुद्ध की चलायी अपूर्व नीति और उनके लोकोत्तर चरित्र बल से बौद्ध धर्म इस प्रकार फैल गया था। भगवान बुद्ध पर मैं बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखता हूँ। लेकिन मेरी बात ध्यान से सुनिये, बौद्ध धर्म का विस्तार उतना उसके मत या बुद्ध के चरित्र बल से नहीं हुआ जितना उनके मन्दिरों और आडम्बर-पूर्ण क्रिया कलापों से हुआ था। इसी तरह से बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ था। इन बड़े बड़े मन्दिरों और आडम्बर पूर्ण क्रियाओं के सामने अपने अपने घर के सामने होम के लिये छोटी छोटी वेदिकायें टिक न सकीं। अंत

में इन क्रियाओं के अनुष्ठान ने अत्यन्त विभत्स रूप धारण किया। उसने इतना घृणित रूप धारण किया कि श्रोताओं के सामने मैं उन्हें अपनी जुबान से निकाल नहीं सकता। जो लोग इसके सम्बन्ध में जानने के इच्छुक हों, वे तरह तरह के चित्रकारी पूर्ण दक्षिणात्य के बड़े बड़े मन्दिरों को देख आवें।

हम लोगों ने बौद्धों से यही विरासत के रूप में पाया है। इससे बाद महान् सुधारक श्री शंकराचार्य तथा उनके बाद के महात्माओं का अभ्युदय हुआ और सैकड़ों वर्ष से, उनके अभ्युदय से आज तक भारत के सर्व साधारण को धीरे धीरे उस मौलिक विशुद्ध वेदान्त धर्म में ले आने की चेष्टा हो रही है। इन सुधारकों को समाज में जो जो दोष थे, वे अच्छी तरह ज्ञात थे, तौ भी उन्होंने समाज की निन्दा नहीं की। उन्होंने यह बात नहीं कही कि तुम में जो कुछ है, बुराई ही बुराई है, उन्हें तुम को त्याग देना पड़ेगा। यह कभी हो भी नहीं सकता था। मैंने अभी पढ़ा है मेरे मित्र वैसेज साहब लिखते हैं ३०० वर्ष में ईसाई मजहब ने ग्रीक धर्म के रोमन प्रभाव को एक दम पलट दिया था। जिन्होंने योरप, ग्रीस और रोम को देखा है, वह कभी ऐसी बात नहीं कह सकते। रोमन और ग्रीक धर्म का प्रभाव कैथोलिक को कौन कहे, प्रोटेस्टेण्ट देशों पर भी है। केवल बदल गया है, पुराने देवता नये वेश में

शंकर आदि प्राचीन आचार्यों के सुधार का प्रयत्न लोगों को धीरे धीरे वेदान्त धर्मानुयायी बनाना था

विद्यमान हैं, देवी हुई हैं मेरी, देवता लोग हुए साधु (Saints) और नये नये अनुष्ठान प्रचलित हुए हैं। यहाँ तक कि प्राचीन उपाधि पटीफेक्स मैक्सिमसक्ष तक है। अस्तु। एक दम परिवर्तन नहीं हो सक्ता। इस तरह का परिवर्तन बिल्कुल आसान नहीं है। इसे शंकराचार्य और रामानुज सभी जानते थे। इस तरह परिवर्तन नहीं हो सक्ता। इसलिये उस समय के प्रचलित धर्म को धीरे धीरे ऊँचे आदर्श की ओर ले जाने के अतिरिक्त उनके लिये और कोई रास्ता न था। अगर वे दूसरा तरीका काम मे लाने की कोशिश करते अर्थात यदि वे सब कुछ उलट पुलट करने की चेष्टा करते तो उन्हें कपट छल करना पड़ता। क्यों कि उनके धर्म का प्रधान मत क्रमोन्नति वाद है, इन सभी भिन्न भिन्न सोपानों से होकर आत्मा अपने ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचेगा। यही उनका मूल मत है। इसलिये ये सभी सोपान आवश्यक और हम लोगों के लिये सहायक हैं। इन सोपानों की निन्दा करने का साहस ही कौन कर सक्ता है?

एक दम परिवर्तन असम्भव है

आजकल यह एक साधारण बात हो गई है और सभी लोग अनायास ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि मूर्ति-पूजा ठीक

---

*रोमनों के पुरोहित-विद्यालय के प्रधानाध्यक्ष इस नाम से पुकारे जाते थे। इस वाक्य का अर्थ प्रधान पुरोहित है। इस समय पोप इसी नाम से पुकारे जाते हैं।

नहीं। मैं भी कभी ऐसा ही कहता और सोचता था और इसके दण्ड स्वरूप मुझे एक ऐसे पुरुष के पैरों तले बैठ कर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी जिन्होंने मूर्ति पूजा से ही सब कुछ पाया था। मैं स्वामी रामकृष्ण परमहंस की बात कह रहा हूँ। हिन्दुओ, अगर मूर्ति पूजा करके इस तरह के रामकृष्ण परमहंस जैसे आदमियों की उत्पत्ति हो तो तुम लोग और क्या चाहते हो, सुधारकों का धर्म चाहते हो या मूर्ति-पूजा? मैं इसका कोई उत्तर चाहता हूँ। अगर मूर्ति-पूजा द्वारा इस तरह रामकृष्ण परमहंस जैसे आदमी बन सकते हैं तो हजारों मूर्तियों की पूजा करो। सिद्धिदाता आपको सिद्धि देवे। चाहे जिस तरह से हो, ऐसे महात्माओं की सृष्टि करो। और मूर्ति-पूजा को लोग गाली देते हैं। क्यों? इसे कोई नहीं जानता। बात यह है कि कई हजार वर्ष पहले एक यहूदी के वंश में उत्पन्न व्यक्ति ने मूर्ति पूजा की निन्दा की थी। अर्थात् उन्होंने अपनी मूर्तियों को छोड़कर और सब की मूर्तियों की निन्दा की थी। उस यहूदी ने कहा था, कि यदि किसी विशेष भाव को प्रकट करने वाली या परम सुन्दर मूर्ति के द्वारा ईश्वर के भाव को प्रकट किया जाय तो यह बड़ा ही दोष पूर्ण है, इसमें बड़ा पाप है। लेकिन एक सन्दूक के दोनों ओर दो देवदूत और ऊपर मेघ हों, इस तरह से ईश्वर का भाव प्रकट किया जाय तो यह बड़ा पवित्र है। अगर ईश्वर उल्लू का रूप धारण करके आवे तो यह बड़ा पवित्र है, लेकिन अगर वह गाय का रूप

मूर्ति पूजा

धारण करके आवे तो यह बहुत बुरा है अधःपतन की ओर ले जाने वाला है।

दुनिया का भाव ही ऐसा है। इसी से कवि कहते हैं कि हम, मृत्युलोक वासी क्या मूर्ख हैं! इसलिये एक दूसरे को एक दूसरे की आँखों से देखना और विचार करना बहुत कठिन बात है। और यही मनुष्य समाज की उन्नति में एक बहुत बड़ी बाधा है। यही ईर्ष्या और घृणा, विवाद और द्वन्द का मूल है। बालको, अपरिपक्व बुद्धि वाले बच्चो, तुम मद्रास के बाहर कहीं नहीं जाते हो। तुम लोग तीस करोड़ आदमियों के ऊपर क़ानून चलाना चाहते हो, क्या तुम को शर्म नहीं आती? इस तरह के दोषों को दूर करो और पहले अपने को शिक्षित करो। श्रद्धा-रहित बालको, तुम लोग कागज़ पर कुछ लाइने खींच देते हो, और किसी गवार को पकड़ कर उसे छपा देते हो। इसी से अपने को संसार का शिक्षक, अपने को भारत का मुख्यपात्र समझते हो? क्या यही बात है न?

हम लोग एक दूसरे का दोष दिखा कर उन्हें शिक्षा देते हैं, लेकिन अपना दोष नहीं देखते।

इसी कारण से मैं मद्रास के सुधारकों को यही कहना चाहता हूँ कि मेरी उन पर बड़ी श्रद्धा और प्रीति है। मैं उनके विशाल हृदय, उनके स्वदेश प्रेम, दरिद्र और अत्याचार-पीड़ित लोगों के प्रति उनके प्रेम के लिये मैं उनसे प्रेम करता हूँ। लेकिन भाई जिस तरह अपने भाई को प्रेम करता है और उसका दोष भी दिख-

सुधारकों को नयी प्रणाली का अवलम्बन करना होगा

लाता है, उसी तरह मैं भी उनसे कहता हूँ कि उनकी कार्य-प्रणाली ठीक नहीं। सैकड़ों वर्षों से इसी प्रणाली से कार्य करने की कोशिश हो रही है, लेकिन इससे कुछ फल नहीं निकला। इस समय हम लोगों को किसी नये उपाय से काम करने की कोशिश करनी होगी। मुझे यही कहना है।

भारतवर्ष मे क्या कभी सुधारकों का अभाव रहा है। आप ने भारत का इतिहास तो पढ़ा ही होगा? रामानुज, शंकर, नानक चैतन्य, कबीर, दादू आदि जो बडे बड़े धर्माचार्य भारत रूपी आकाश में तारे की तरह उदित होकर अस्त हो चुके हैं, ये क्या थे? रामानुज का हृदय क्या नीच जातियों के लिये रोता नहीं था? क्या उन्होंने जीवन भर नीच से नीच जातियों, यहाँ तक कि पारिया जाति तक को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करने के लिये प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने मुसलमानों तक को ग्रहण करने की कोशिश नहीं की? नानक

पुराने और आज कल के सुधारकों में भेद

ने हिन्दू मुसलमान दोनों जातियों को मिला कर एक नया समाज संगठित करने की कोशिश नहीं की? इन सब ने प्रयत्न किये थे और उनके कार्य अब भी हो रहे हैं। तो भी अन्तर यह है कि वे आधुनिक सुधारकों की तरह गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाते नहीं थे और न ढोंग ही करते थे।

आधुनिक सुधारकों की तरह उनके मुख से कभी शाप भरे शब्द नहीं निकलते थे, उनके मुँह से केवल आशीर्वाद निकलता था। वे कभी समाज पर दोषारोपण नहीं करते थे। वह लोगों से कहते थे कि हिन्दू जाति को क्रमश उन्नति करनी होगी। वे भूतकाल की ओर दृष्टि डाल कर कहते थे कि हिन्दुओ, तुम ने आज तक जो कुछ किया है, वह अच्छा ही हुआ है। लेकिन हे भाइयो, हम लोगों को और भी अच्छा कार्य करना होगा। उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि तुम लोग इतने दिन तक बुरे थे, अब तुम लोगों को अच्छा बनना होगा। वे कहते थे कि तुम लोग अच्छे थे, लेकिन अब और भी अच्छा बनना पड़ेगा। इन दोनों तरह की बातों मे विशेष अन्तर है। हम लोगों को अपने

जातीय भाव से समाज सुधार

स्वभाव के अनुसार उन्नति के लिये प्रयत्न करना होगा। विदेशी समाज हम लोगों पर जबर्दस्ती जो प्रणाली चलाना चाहता है उसके अनुसार कार्य करने की कोशिश करना व्यर्थ है। वह असम्भव है। हम लोगों की दूसरी जातियों की तरह तोड़ फोड़ कर गढ़ा नहीं जा सकता, इसके लिये ईश्वर को धन्यवाद है। मैं दूसरी जातियों की सामाजिक प्रथाओं की निन्दा नही करता। वे प्रथायें उन जातियोंके लिये भले ही अच्छी हो, परन्तु हमारे लिये अच्छी नही हैं। उनके लिये जो अमृत है, वही हमारे लिये विष के समान हो सकता है। पहले इसी को सीखना होगा। दूसरे तरह के विज्ञान, व दूसरे प्रकार के

राजनैतिक परिवर्तन होगा, इसे दिखाये बिना मैं इंग्लैंड में धर्म प्रचार न कर सकता था। इस प्रकार भारत में समाज-सुधार का प्रचार करने के लिये दिखलाना होगा कि उस नवीन सामाजिक प्रथा के द्वारा आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त करने में क्या विशेष सहायक होगा। राजनीति का प्रचार करने पर भी यह दिखलाना होगा कि हमारे जातीय जीवन की प्रधान आध्यात्मिक उन्नति उसके द्वारा कहाँ तक अधिक सिद्ध होगी।

विभिन्न जातियों के मूल उद्देश्य के अनुसार कार्य प्रणाली का तारतम्य

प्रत्येक मनुष्य इस संसार मे अपना अपना रास्ता ढूंढ लेता है। प्रत्येक जाति के लिये भी वही बात है। हम लोगों ने सैकड़ों युगों से ही अपना रास्ता ढूँढ लिया है, इस समय हम लोगों को उसी के अनुसार चलना होगा। हम लोगों के इस चुनाव को कोई बुरा नहीं कहा जा सकता। जड़ के बदले चैतन्य, मनुष्य के बदले ईश्वर का चिन्तन करना क्या बुरा कहा जा सकता है? आप लोगों का उस परलोक मे दृढ विश्वास है, इस लोक के प्रति अत्यन्त उदासीनता, त्याग तथा ईश्वर और अविनाशी आत्मा में दृढ विश्वास विद्यमान है। क्या कभी इसे त्याग करके देखा है। आप कभी इसे त्याग नहीं कर सकते। आप लोग जड़वादी बनकर कुछ दिन तक जड़वाद की बातें कहकर मुझे धोखा देने की भले

धर्म को अपने जातीय जीवन का मेरु दण्ड बनाना क्या बुरा हुआ है?

ही कोशिश करें, मगर मैं आप लोगों के स्वभाव को जानता हूं । इसी से धर्म के सम्बन्ध में अच्छी तरह से समझा दूंगा, इससे आप परम आस्तिक होंगे, भला स्वभाव कैसे बदल सकता है? आप लोग धर्म के प्राण-स्वरूप हैं।

इस कारण से भारत मे जिस किसी तरह के सुधार वा उन्नति की चेष्टा की जाय, पहले धर्म-प्रचार आवश्यक होगा।

पहला काम भारत में धर्म प्रचार है।

भारत को सामाजिक वा राजनैतिक भावों से भरने के पहले इस देश को आध्यात्मिक भावों से भरना होगा। पहले यह करना आवश्यक है। सबसे पहले हम लोगों को इस कार्य मे मन लगाना होगा कि हम लोगों के उपनिषदों में, पुराणों मे तथा हमारे अन्यान्य शास्त्रों मे जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन ग्रन्थों से निकाल कर मठों से, वनों से, सम्प्रदाय विशेष के अधिकार से बाहर करके सम्पूर्ण भारत में फैला देना होगा, जिस से शास्त्र में छिपी हुई महा वाक्य की ध्वनि उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक—हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक और सिन्धु नदी से लेकर ब्रह्मपुत्र नद तक—गूँज उठे। सब लोगों को शास्त्रों में छिपी हुई उपदेशावलि को सुनानी होगी। क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि पहले श्रवण करो, पीछे मनन करो, इसके बाद निदिध्यासन करो। पहले लोगों में शास्त्रों के वाक्यों को सुनिये और जो कोई भी आदमी लोगों को शास्त्र के वाक्यों को सुनाने मे मदद करता है, वह आज ऐसा एक कार्य करता है

जिसके समान और कोई कर्म नहीं हो सकता। मनु ने कहा है, "इस कलियुग में मनुष्यों के करने के लिये एक कर्म है। आज कल यज्ञ तथा कठोर तपस्या से कोई फल नहीं हो सकता। इस समय दान ही एक मात्र कर्म है।* दानों में धर्म दान, आध्यात्मिक ज्ञान ही सर्व श्रेष्ठ दान है। दूसरा विद्या दान है, तीसरा प्राण दान है, चौथा अन्न दान

दान मेकं क्लौयुगे

है। इस अपूर्व दानशील हिन्दू जाति की ओर दृष्टि डालिये। इस दरिद्र, अत्यन्त निर्धन देश में लोग कितना दान करते हैं, इस ओर ध्यान दीजिये। यहाँ पर लोग इतना अथिति सत्कार करते हैं कि कोई आदमी बिना किसी अवलम्ब के इस देश के इस छोर से उस छोर तक घूम आ सकता है। लोग अपने सगे सम्बंधियों को जिस तरह यत्न के साथ अनेक उपचारों के द्वारा सेवा करते हैं, वैसे ही वह जहाँ भी जाँयगे, लोग उनकी उसी तरह से सेवा करेंगे। यहाँ पर कहीं जब तक रोटी का एक टुकड़ा भी रहेगा, तब तक कोई किसी भिखमंगे को बिना खाये मरने न देगा।

इस दानशील देश में हम लोगों को पहले दो प्रकार के दानों में साहस पूर्वक आगे बढ़ना होगा। पहला तो ज्ञान का विस्तार है। इस ज्ञान दान को केवल भारत तक ही परिमित न रखना होगा,

---

*तपः परं कृते युगे त्रेतायां ज्ञान मुच्यते।
द्वापरे यज्ञ मेवाहु दांनमेकं कलौ युगे। मनुस्मृति १ अ० ८६ श्लो०

सारे संसार में उसको देना होगा। यह सदा से होता आया है। जो लोग आप से कहते हैं कि भारत के अतिरिक्त और देशों मे धर्म-प्रचार के लिये पहले पहल मैं ही सन्यासी रूप में गया हूँ वे अपने देश के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। ऐसा कई बार हुआ है। जभी ससार को आवश्यकता हुई है, तभी आध्यात्मिकता के झरने से नदियों निकल कर सारे संसार को सावित किया है। असख्य सैनिकों को लेकर उच्च स्वर से भेरी बजाते हुए राजनैतिक ज्ञान का विस्तार किया जा सकता है, लौकिक वा सामाजिक ज्ञान को फैलाने के लिये भी तलवार या तोप की सहायता हो सकती है। लेकिन ओस बूँदे की अदृश्य रूप से पड़ने पर हजारों गुलाब की कलियों को खिला देती है। वैसे ही आध्यात्मिक ज्ञान चुपचाप अज्ञात रूप से फैलता रहता है। भारत ने कई बार संसार को यह आध्यात्मिक ज्ञान रूपी उपहार दिया है। जभी किसी दिग्विजयी जाति ने उठकर ससार की भिन्न भिन्न जातियों को एक सूत्र में बाँधा है, जभी उनने रास्ता घाट ठीक करके विभिन्न स्थानों मे आने जाने की सुगमता कर दी है, तभी भारत ने उठ कर संसार की उन्नति के लिये जो कुछ देना है, दिया है, अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान दिया है। बुद्धदेव के पैदा होने के बहुत पहले से ही ऐसा होता आया है। चीन, एशिया माइनर और मलयद्वीप समूहों मे इसके चिन्ह मौजूद हैं। जभी उस प्रबल दिग्विजयी ग्रीक जाति

भारत के अतिरिक्त देशों में धर्म प्रचार

ने उस समय के परिचित जगत के सम्पूर्ण अंश को एकत्र बाँधा था, उस समय भी ऐसा हुआ था, उस समय भी भारतीय धर्म उन सभी स्थानों मे फैला था और पाश्चात्य प्रदेश जिस सभ्यता के कारण घमंड करता है, वह उस महानदी का चिन्ह मात्र है। इस समय फिर वही समय उपस्थित है। इंग्लैंड की शक्ति से सारे संसार की जातियाँ एक सूत्र मे बँधी हुई है। अंग्रेजों का रास्ता और दूसरे आने जाने के साधन एक देश से दूसरे देश तक फैले हुए हैं। आज अंग्रेजों की प्रतिभा से संसार अपूर्व भाव से एक सूत्र में बँध गया है। आजकल जिस प्रकार विभिन्न स्थानों मे व्यापार के केन्द्र स्थापित हो गये है, मानव जाति के इतिहास में कभी नहीं हुए थे। इसलिये इस सुयोग को पाकर भारत ने चाहे प्रत्यच रूप मे अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे उठ कर संसार को अपनी आध्यात्मिकता का उपहार दिया है। अब इन मार्गों का अवलम्बन कर के यह भारतीय विचार-धारा सारे संसार में फैल जायगी। मैं जो अमेरिका गया था, यह आपकी अथवा मेरी इच्छा से नहीं। बल्कि भारत के ईश्वर ने—जो इसके भाग्य विधाता हैं, मुझे भेजा था। और वे ही इस तरह के सैकड़ों आदमियों को संसार की सभी जातियों के पास भेजेंगे। कोई पार्थिव शक्ति उसे रोकने में समर्थ नहीं हो सक्ती। इसलिये आप लोगों को भारत के अतिरिक्त और देशों मे धर्म-प्रचार का कार्य करने के लिये जाना होगा। धर्म प्रचार के लिये आपको भारत के बाहर जाना होगा, और संसार की सभी जातियों

और लोगों मे उसका प्रचार करना होगा। पहले यह धर्म-प्रचार आवश्यक है।

धर्म-प्रचार के साथ साथ लौकिक विद्या तथा अन्यान्य विद्यायें जो कुछ आवश्यक होंगी, आपसे आप आ जायगीं।

साथ साथ विद्या-दान भी करना होगा।

लेकिन अगर धर्म को छोड़ कर लौकिक ज्ञान को फैलाने की कोशिश करोगे तो मैं आपसे स्पष्ट कहता हूँ कि भारत में आप की यह कोशिश बिल्कुल बेकार होगी। लोगों के दिल में वह घर न करेगी। यही क्यों, इतना बड़ा जो बौद्ध धर्म था, वह भी बहुत अंशों मे इसी कारण से अपना प्रभाव न फैला सका। अगर इस फल को पाने मे असफल हो तो हम आप क्या कर सकते हैं?

हे भाइयो, इस कारण से मेरा संकल्प यह है कि भारत में, मैं कई विद्यालय खोलूँगा। उसमे हमारे युवक भारत में तथा

आचार्य शिक्षालय

बाहर के देशों में हमारे शास्त्र में छिपे हुए सत्यों के प्रचार करने की शिक्षा पायँगे। मनुष्य चाहिए मनुष्य, और सब कार्य हो जायँगे। बलवान, बिल्कुल निश्छल, तेजस्वी तथा विश्वास-पात्र युवकों की आवश्यकता है। अगर इस तरह के एक सौ युवक मिल जाँय तो सारे संसार मे भाव को फैला दिया जा सकता है। और सब बातों की अपेक्षा इच्छा-शक्ति का प्रभाव अधिक पड़ता है। इच्छा-शक्ति के सामने और सभी शक्तियाँ

कमजोर हो जाँयगी। क्योंकि इच्छा शक्ति स्वयं ईश्वर के यहां से आती है। शुद्ध और दृढ़ इच्छा शक्ति सर्वशक्तिमान है। क्या आप इस पर विश्वास नहीं करते ? सब लोगों में अपने धर्म के महान् सत्यों का प्रचार कीजिये, फैलाइये। सारा संसार इन के लिए इन्तजारी कर रहा है।

सैकड़ों शताब्दियों से लोगों को मतमतान्तर यह शिक्षा देते आरहे हैं कि मनुष्य अधम हैं। उन्हें यह बतलाया गया है कि वे कुछ नहीं हैं। सब जाति के लोगों को चिरकाल से यह कहा गया है कि तुम मनुष्य नहीं हो। सैकड़ों शताब्दियों से उन्हें इस प्रकार भय दिलाया गया है जिससे वे धीरे धीरे सचमुच ही पशुवत हो गये हैं। उन्हें कभी आत्मतत्व नहीं बतलाया गया है।

आत्म-तत्व के सुनने से हीन व्यक्तियों में शक्ति का विकास होगा

वे अब आत्मतत्व सुनें, वे जान लें कि उनमें से छोटे से छोटे व्यक्ति के भीतर भी आत्मा है, उसे न तो आग जला सकती है, न हवा सुखा सकती है, वह अविनाशी है, अनादि है, अनन्त है, शुद्ध रूप है, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है।

वे अपने में विश्वास रखें। अँग्रेज जाति और आप में क इतना अन्तर है ? वे अपने धर्म की श्रेष्ठता, प्रबल कर्तव्य की बात क्यों न कहें, मैंने जान लिया है कि किस बात में द जातियों में भेद है। वह अन्तर यह है कि अँग्रेज अपने

अंग्रेज़ों और हम लोगों में क्या अंतर है! अंग्रेज़ विश्वासी हैं हम लोग अविश्वासी हैं

विश्वास रखते हैं, आप नहीं। उनका विश्वास है कि वे जब अंग्रेज हैं तो जो चाहें कर सकते हैं। इसी विश्वास-बल से उनके अन्दर छिपा हुआ ब्रह्म जग उठता है तब वह जो चाहते हैं, कर सकते हैं। आप से लोग कहते आते हैं और शिक्षा देते आते हैं कि तुम में कुछ भी करने की शक्ति नहीं है, इसी से आप अकर्मण्य हो गये हैं। इसलिए अपने में विश्वास रखिए।

इस समय हम लोगों के लिये आवश्यक है, शक्ति संचार करना। हम लोग दुर्बल हो गये हैं। इसी से हम लोगों में गुप्त विद्या, रहस्य विद्या, टोना जादू मन्तर सब आ गया है। संभव है, इनमें महान् सत्य हो, लेकिन इन्होंने हम लोगों को प्राय नष्ट कर दिया है। अपने स्नायुओं को तेजस्वी बनाओ।

दुर्बलता और गुप्त विद्या Occultism

हम लोगों को लोहे और वज्र के समान मजबूत पेशी और स्नायु वाला बनने की आवश्यकता है। हम लोग बहुत दिनों से रोते आ रहे हैं। अब अधिक रोने की आवश्यकता नहीं। अब अपने पैरों के बल खड़े होकर मनुष्य बनो। हम लोगों को इस समय ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो हम लोगों को मनुष्य बना सके। हम लोगों को ऐसे मतवाद की आवश्यकता है, जिससे हम लोग मनुष्य बन सकें। जिससे

मनुष्य तैयार हों, ऐसी सब अंगों से भरी शिक्षा की आवश्यकता है। कौन विषय सच्चा है या नहीं, उसे जानने की अव्यर्थ परीक्षा यह है कि वह आप में शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक दुर्बलता लाती है या नहीं। अगर वह ऐसी है, तो उसे विष के समान त्याज्य समझना चाहिए। जिसमें जीवन नहीं है वह कभी सच्ची नहीं हो सकती। सत्य बल-दाता होता है। सत्य ही पवित्रता का विधायक होता है, वही ज्ञान-स्वरूप होता है। सत्य सचमुच बलप्रद होता है, वह हृदय के अन्धकार को दूर कर देता है, उससे हृदय मे तेज आता है। इन रहस्यमय गुप्त मतों में थोड़ा बहुत सत्य रहने पर भी साधारणत वह मनुष्य को दुर्बल बना देता है। आप मुझ पर विश्वास रखें, मैंने अपने जीवन के अनुभव से इसे जाना है। मैंने भारत के सभी स्थानों में भ्रमण किया है, यहा की सभी गुफाओं को ढूँढ कर देखा है। हिमालय पर भी रह चुका हूँ। ऐसे बहुत से लोगों को जानता हूँ जो जिन्दगी भर वहीं रहे हैं। मैंने इन सभी गुप्त मतवादों के सम्बन्ध में यही एक मात्र सिद्धान्त निश्चित किया है कि ये मनुष्य को दुर्बल बना देती हैं। मैं अपनी जाति को प्यार करता हूँ। आप काफी कमजोर हो गये हैं, आपको और ज्यादा कमजोर और हीन देखना नहीं चाहता हूँ। इसलिये आप लोगों की भलाई के लिये और सत्य के लिये तथा मेरी जाति की अवनति न हो, इसके लिये ऊँचे स्वर में चिल्ला कर बोलने को बाध्य हुआ हूँ। अब अवनति के मार्ग की ओर अग्रसर न होइये, जहा तक आप बढ़ गये हैं, वही काफी है।

अब वीर्यवान होने का प्रयत्न कीजिए। अपने उपनिषदों का, जो बलदाता, प्रकाशमद दर्शन शास्त्र है,

चल देने वाले उपनि
|दों का अवलम्बन करो

फिर से अनुकरण कीजिये और इस रहस्य भरी कमजोरी को छोड़ दीजिए। उपनिषद् रूपी महान् दर्शन का अवलम्बन कीजिये। संसार के सब महान् सत्य बिल्कुल सहज बोध्य हैं। जिस प्रकार आपके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे चीज की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही यह भी हैं। आपके सन्मुख उपनिषदों के सत्य मौजूद हैं। इन सत्यों का अवलम्बन कीजिए, उन्हें प्राप्त कर उन्हें कार्य-रूप मे परिणत कीजिये तब अवश्य ही भारत का उद्धार होगा।

और एक बात कह कर अपने वक्तव्य को समाप्त करूँगा। लोग स्वदेश हितैपिता की बात कहते हैं। मैं भी स्वदेश-हितैपिता में विश्वास रखता हूँ। इसके सम्बन्ध मे मेरा भी एक आदर्श है। किसी बड़े कार्य को करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। पहले हृदयवान होने की आवश्यकता होती है, बुद्धि, विचारशक्ति हम लोगों को कहाँ तक सहायता करेगी? वह हम लोगों को कुछ क़दम आगे भले ही बढ़ा देती है किन्तु हृदय-द्वार से ही महाशक्ति की प्रेरणा आती है।

स्वदेश-हितैपिता के लिये तीन बातों की आवश्यकता होती है

प्रेम असंभव को संभव बना देता है। संसार के सभी रहस्य प्रेमी के लिए बिल्कुल आसान हैं। हे भावी सुधारको,

हृदयवान, कर्मशील हे भावी स्वदेश-हितैषियो, आप लोग तथा दृढ होने की हृदयवान होइये, प्रेमी बनिये। क्या आपने निश्चय रूप से समझ लिया कि करोड़ों ऋषियों तथा देवताओं के वंशधर बिलकुल पशु हो गये हैं ? क्या आप यह अच्छी तरह अनुभव करते हैं कि करोड़ों लोग बिना खाये पिये मर रहे हैं और करोड़ों लोग सैंकड़ों शताब्दियों से आधा पेट खाये जीवन बिता रहे हैं ? क्या आप यह समझे हुये हैं कि अज्ञान रूपी काली घटा सारे भारत को घेरे हुए है ? क्या आप यह सोच विचार कर अस्थिर हो गए हैं ? क्या इस चिन्ता के मारे आप को नींद नहीं आतीं ? क्या यह भावना आपके खून के साथ मिलकर आपके नस नस में बह रही है ? क्या इस भावना ने आपको पागल बना दिया है ? देश की दुर्दशा की चिन्ता क्या आपके ध्यान का एक मात्र विषय हो रहा है और इस चिन्ता मे डूब कर क्या आप अपने नाम यश, स्त्री-पुत्र, विषय-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर तक को भूल गये हैं ? क्या सचमुच आपकी ऐसी दशा हो रही हैं ? अगर ऐसी दशा हो गई है तो यह समझिये कि आपने स्वदेश हितैषी होने के प्रथम सोपान पर पैर रखा है। आप मे से बहुत से जानते होंगे कि मैं अमेरिका में इसलिये नहीं गया था कि वहाँ सर्व धर्मसम्मेलन होने वाला था, बल्कि देश के जन साधारण की दुर्दशा के प्रतिकार के लिये भूत मेरी गर्दन को दबा रहा था । मैं इधर कई

वर्षों से सारे भारत मे घूमा हूँ, लेकिन अपने देशवासियों की सेवा करने का कोई भी मौका नहीं पाया। इसीलिये मैं अमेरिका गया था। उस समय आप लोगों में से जो लोग मुझे जानते थे, वे अवश्य ही इस बात को जानते हैं। धर्म सभा मे क्या हुआ, क्या न हुआ, इस बात को लेकर आप दिमाग को न खपाइये। यहाँ पर मेरे मास रक्त रूपी जन साधारण दिन दिन नष्ट हो रहे हैं, क्या इसकी खबर आपको नहीं है? यही स्वदेश हितैषी होने की पहली सीढ़ी है।

माना कि देश की दुर्दशा को आप खूब समझते हैं, किन्तु मैं पूछता हूँ कि इस दुदशा को दूर करने के लिये कोई उपाय स्थिर किया है? कोरी बातों में शक्ति का नाश न करके कोई काम लायक़ रास्ता ढूढ निकाला है? क्या आप लोगों को गाली न देकर उनकी उचित सहायता कर रहे हैं? स्वदेश-वासियों की इस मुर्दे के समान दशा को दूर करने के लिये उन के दु:ख दर्द मे कुछ सान्त्वना भरे वाक्य क्या आप उन्हें सुनाते हैं? लेकिन आप से तो यह भी नहीं होता। क्या आप पहाड़ के समान बाधाओं को तुच्छ समझ कर काम करने के लिये तैयार हैं? अगर सारा संसार हाथ मे तलवार लेकर आपके मुकाबिले को खड़ा हो तौ भी आपने जिसे सच्चा मान लिया है, वही कर सकते हैं? अगर आपके स्त्री पुत्र आपके विरुद्ध खड़े हों, अगर आप का धन आदि सब कुछ चला गया तौ भी क्या आप उस पर डटे रह सकते हैं? राजा भर्तृहरि ने जैसा कहा है, नीतिनिपुण

लोग चाहे निन्दा करें, या प्रशंसा कर, लक्ष्मी आयें या जायें, मृत्यु आज ही हो या युगान्तर मे हो, वही धीर हैं, जो सत्य से जरा भी विचलित नहीं होते। ❀ इसी प्रकार अपने मार्ग से विचलित न होकर क्या आप दृढता के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकते हैं ? क्या आप मे ऐसी दृढ़ता है ? अगर आप में ये तीन चीजें हैं तो आप में से प्रत्येक अलौकिक कार्य कर सकता है। आपको पत्रों में लिखने या वक्तृता देने के लिये घूमने की आवश्यकता न होगी। आप का मुख एक स्वर्गीय ज्योति धारण करेगा। आप अगर पहाड़ की गुफा में जाकर वास करेंगे तो भी आप की विचार-धारा पर्वत की प्राचीर को भेदकर बाहर निकल पड़ेगी। संभव है कि सैकड़ों वर्षों से कोई आश्रय न पाकर सूक्ष्म रूप में संसार में भ्रमण करे। लेकिन एक न एक दिन वह किसी मस्तिष्क का आश्रय लेगी ही। तब उस विचार धारा के अनुसार कार्य होगा। निश्छलता, पवित्र विचार और शुद्ध भावना में असीम बल होता है।

और एक बात है। मुझे आशंका हो रही है कि आप लोगों को विलम्ब हो रहा है। मेरे देश भाइयो, मेरे बन्धुओ,

---

❀निन्दंति नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्ठम्
अद्यैव वा मरण मस्तु युगान्तरे वा
न्यायात् पथात् प्रविचलन्ति पदं न धीरा
नीति शतक ७४

हमारे बच्चो, यह जातीय नौका लाखों आदमियों को जीवन रूपी नदी के पार कर रही है। इसकी सहायता से अनेकों शताब्दियों से लाखों आदमी जीवन रूपी नदी के उस पार अमर लोक में पहुँचे हैं। आज संभव है, आपके ही दोष से उस में दो एक छेद हो गये हैं, वह कुछ खराब हो गई है। आप इस समय क्या उसकी निन्दा करोगे ? संसार की सभी वस्तुओं से जो वस्तु हमारे काम में अधिक आई है, उस पर क्या आप को शाप की वर्षा करना उचित है ? अगर इस जातीय पोत में छेद हो गया है—हमारे समाज में खराबी पैदा हो गई है—तो आखिर हम सन्तान तो इसी समाज की हैं। हम लोगों को तो इसे बन्द करना होगा। अगर हम लोग ऐसा न कर सकते तो आनन्द के साथ हमारे हृदय का रक्त देकर भी उसके लिये प्रयत्न करना होगा, नहीं तो हमें मरना पड़ेगा। हम लोग अपने मस्तिष्क रूपी काठ के टुकड़े से इस नाव के छेदों को बन्द करेंगे, किन्तु कभी इसकी निन्दा न करेंगे। इस समाज के विरुद्ध कोई कठोर बात न कहिये। मैं इसके अतीत महत्व के कारण इसे प्यार करता हूँ। मैं आप सब लोगों को प्यार करता हूं। क्योंकि आप देवताओं के वंशधर हैं, आप महा महिमाशाली पूर्वजों की सन्तान हैं। आप का सब तरह से कल्याण हो। भला आप की किस तरह निन्दा करूँ या गाली दूँ। यह कभी नहीं हो सकता। हमारी सन्तानो ! मैं आप लोगों से अपना सब उद्देश्य कहने के लिये आया हूं ! अगर आप सुनें तो मैं आप लोगों के साथ कार्य करने

को तैयार हूं, अगर न सुनेंगे, यही नहीं, बल्कि अपने पैरों से मारकर मुझे भारत भूमि से भगा भी देवें तो भी आपके पा वापस आकर कहूंगा कि हम सब लोग डूब रहे हैं। इसी कार से मैं आप लोगों के भीतर आप लोगों का एक होकर आप लो मे मिलने के लिये आया हूं। और यदि हम लोगों को डूबना है तो हम सब लोग मानो एक साथ ही डूबें लेकिन किसी प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग न करें।

विश्व को भारत का सन्देश

पुण्य भूमि भारत

मेरे द्वारा जो कुछ मामूली काम हुआ है, वह मेरी किसी गुप्त शक्ति के बल से नहीं हुआ है। पाश्चात्य देशों में भ्रमण करते समय मेरी प्यारी भूमि भारत से जो उत्साह भरे वाक्य, जो शुभेच्छा, जो आशीर्वाद पाया है, यह सब कुछ उसी के बल से हुआ है। यद्यपि थोड़ा बहुत कार्य हुआ है, लेकिन इस भ्रमण से विशेष लाभ मुझे हुआ है। इसका कारण यह है कि पहले हृदय के आवेग से जो कुछ विश्वास करता था, अब वह मेरे लिये सत्य और प्रामाणिक सिद्ध हुआ है। पहले सब हिन्दुओं की तरह मैं भी विश्वास करता था कि भारतवर्ष पुण्य भूमि, कर्म भूमि है। माननीय सभापति ने भी यही कहा है। मैं आज इस सभा के सामने खड़ा होकर दृढ़ता के साथ कहता हूँ, यह सच है, बिल्कुल ठीक है। अगर इस पृथ्वी में ऐसा कोई देश है जिसे पुण्य-भूमि कहा जा सके—यदि ऐसा कोई स्थान है जहाँ पर पृथ्वी के सभी जीवों को कर्म-फल भोगने के लिये आना होगा, अगर ऐसा कोई स्थान है जहाँ ईश्वर को पाने की इच्छा रखने वाले जीवों को आना होगा, यदि ऐसा कोई देश है, जहाँ पर

सब से अधिक आध्यात्मिकता और अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ है तो मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ वह हमारी मातृभूमि यह भारत वर्ष ही है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही यहाँ पर भिन्न भिन्न धर्मों के संस्थापक आविर्भूत होकर सारे जगत को कई बार सनातन धर्म की पवित्र आध्यात्मिक धारा में नहला चुके हैं। यहीं से उत्तर दक्षिण, पूर्व पश्चिम सर्वत्र दार्शनिक ज्ञान की प्रबल तरङ्गे बही हैं। फिर यहीं से तरङ्ग बढ कर सारे संसार की सभ्य जातियों को आध्यात्मिक जीवन प्रदान करेगी। दूसरे देशों के लाखों स्त्री पुरुषों के हृदय को जलाने वाली जड़वाद रूपी अग्नि को बुझाने के लिये जिस अमृत सलिल की आवश्यकता है, वह यहीं पर वर्तमान है। भाइयो, आप विश्वास रखें, भारत ही जगत को आध्यात्मिक धारा में नहलायगा।

मैंने सारे भारत मे घूम कर जो अनुभव प्राप्त किये हैं, इससे इसी सिद्धान्त पर पहुंचा हूँ। आप लोगों में जिन्होंने विभिन्न जातियों के इतिहास को मन लगा कर पढ़ा होगा, वे भी इस विषय को अच्छी तरह से जानते होंगे। अगर और और देशों की आपस में तुलना की जाय तो यह दिखलाई पड़ेगा कि यह सहिष्णु निरीह हिन्दू जाति का संसार जितना ऋणी है, उतना और किसी जाति का नहीं है। 'निरीह हिन्दू' पद समय समय पर तिरस्कार के रूप में प्रयुक्त हुआ है लेकिन अगर किसी तिरस्कार भरे वाक्य में गहरा सत्य छिपा हुआ हो तो उसे मानना

'निरीह' हिन्दू

। पड़ेगा। हिन्दू लोग सदा से जगत पिता की प्रिय सन्तान हैं।
ह सच है कि संसार के दूसरे दूसरे स्थानों मे सभ्यता का
कास हुआ है, यह सत्य है कि प्राचीन काल और वर्तमान काल
ं बहुत सी शक्ति-शाली जातियों से उच्च भाव प्रकट हुए हैं तथा
समय समय पर एक जाति से दूसरी जाति में अद्भुत और अनोखे
त्व फैले हैं, यह भी सत्य है कि प्राचीन काल में और आज कल
भी कोई जातीय जीवन तरंग फैल कर चारों ओर अत्यन्त शक्ति-
शाली सत्य के बीजों को हटाने में समर्थ हुआ है, किन्तु भाइयो,
आप यह भी देखें कि इन सब सत्यों का प्रचार, रण भेरी के
निनाद और रण की सज्जा से सजी हुई गर्वीली सेना के आगमन
के साथ ही हुआ था। लाखों बेकसूर लोगों के खून को बिना
बहाये, जमीन को खून से बिना रंगे कोई जाति दूसरी
जाति को नवीन भाव प्रदान करने मे समर्थ नहीं हुई है।
प्रत्येक ओजस्वी भाव के प्रचार के पीछे अगणित लोगों का
हाहाकार, अनाथों का क्रन्दन और विधवाओं के आँसू बहते हुए
दिखलाई पड़ते हैं।

विशेष कर इसी उपाय से ही दूसरी जातियों ने संसार को
शिक्षा दी है, किन्तु भारत इस उपाय का अवलम्बन न करके भी
हजारों वर्षों से जीवित है। जिस समय ग्रीस का अस्तित्व भी न
था, जिस समय रोम भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ था, जिस
समय आज कल के युरोपियनों के पुरखे जर्मनी के घने जंगलों
में नंगे घूमा करते थे और अपने शरीर को नीले रङ्ग से रङ्गा

धर्मप्राण भारत के जीवन का स्थायित्व और उसके अभाव में अन्यान्य जातियों के क्षण स्थायित्व का कारण

करते थे, उस समय भी भारत की क्रियाशीलता का परिचय पाया जाता है। और भी प्राचीन काल में, जिसका पता इतिहास को बिल्कुल नहीं है जहाँ पर किम्वदन्ती की भी पहुँच नहीं है, उस समय से लेकर आज तक एक पर एक कई भावनायें उत्पन्न हुई हैं, किन्तु उनमें से हर एक सामने शान्ति और पीछे आशीर्वाद लेकर बढी हैं। ससार की सभी जातियों में हम लोगों ने ही कभी दूसरी जाति को युद्ध के द्वारा जीता नहीं है उसी शुभ कार्य के फल से ही हम लोग अब भी जीते जागते हैं। कभी ऐसा भी समय था जब ग्रीकों की प्रबल वाहिनी के वीर दर्प से पृथ्वी काँपती थी। अब वह कहाँ है? इस समय उनका चिन्ह तक नहीं रह गया है। आज ग्रीक देश का गौरव सूर्य अस्त हो चुका है। एक वह समय था जब रोम की श्येनाकित विजय पताका संसार के सभी भोग्य पदार्थों के ऊपर फहराती थी। रोमन सब जगह जाते और मनुष्य जाति पर अपना शासन चलाते थे। रोम के नाम से पृथ्वी काँपती थी। आज कैपिटोलाइन* पहाड़ का भग्न स्तूप स्तूपमात्र रह

*कैपिटोलाइनहिल—रोम नगर सात पहाड़ों के ऊपर बना था। उनमें से जिसके ऊपर रोम के कुल देवता जुपिटर का बड़ा मन्दिर था उसका नाम कैपिटोलाइन पहाड़ था। जुपिटर के मन्दिर का नाम कैपिटल था, इसीसे पहाड़ का यह नाम रखा गया।

गया है। जहाँ पर सीजर बादशाह प्रबल प्रताप से शासन करते थे वहाँ पर मकड़ी जाला बुनती है। और भी कई जातियाँ इसी प्रकार उठी हैं और गिर पड़ी हैं। घमण्ड में चूर हो उन्होंने अपना प्रभुत्व फैलाया और थोड़े दिन तक पराजित जातियों पर घोर जुल्म करके जल के बुदबुद की तरह नष्ट हो गईं।

इस प्रकार ये सब जातियाँ एक समय अपना चिन्ह बना कर इस समय लुप्त हो गई हैं। हम लोग अब भी जीवित हैं। और आज अगर मनु इस देश मे आयें तो वह यहाँ आकर कुछ भी आश्चर्य न करेंगे। वह यह नहीं समझेंगे कि मैं कहाँ अनजान जगह मे आ फँसा! हजारों वर्ष की विचार धारा और परीक्षा के फल स्वरूप वे प्राचीन विधान अब भी यहाँ पर वर्तमान हैं। सैकड़ों शताब्दियों के अनुभव के फल स्वरूप ये सभी आचार अब भी यहाँ पर वर्तमान हैं। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों विपत्तियाँ आघात करती हैं, त्यों त्यों वे और दृढ़ होते जाते हैं और भी उनमे स्थायित्व आता जाता है। इन सभी आचारों और विधानों का केन्द्र कहाँ पर है। किस हृदय से रुधिर संचालित होकर उन्हें पुष्ट रखता है, हम लोगों के जातीय जीवन का मूल सोता कहाँ पर है, यदि इसे जानना चाहें तो विश्वास रखें कि वह यहीं पर वर्तमान है। सारे संसार में घूम कर मैंने जो कुछ अनुभव प्राप्त किया है, उससे मैं इसी सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ।

दूसरी जातियों के लिये धर्म संसार के दूसरे कामों की तरह

एक कार्य मात्र है। वहाँ राजनीतिचर्चा है, सामाजिकता है, धन और प्रभुत्व द्वारा जो पाया जाय, इन्द्रियों को जिससे आनन्द मिले इसी के लिये सभी प्रयत्नशील रहते हैं। इन सब कार्यों के भीतर और भोग में निस्तेज इन्द्रियाँ किस प्रकार अधिक से अधिक उत्तेजित होंगी, इन सब चेष्टाओं के साथ साथ एक आध धर्म कर्म भी होता जाता है। किन्तु यहीं पर भारत में ही—सभी प्रयत्न धर्म के लिये होते हैं—धर्म की प्राप्ति ही उनके जीवन का एक मात्र कार्य है। चीन जापान का युद्ध हो गया है, आप लोगों में कितने लोग उसके सम्बन्ध मे जानते हैं?

धर्म ही भारत का मुख्य अवलम्ब है और देशों का राजनीति व समाजनीति

पाश्चात्य समाज में जो तरह तरह के बड़े बड़े राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन होकर उसे बिल्कुल नया रूप दिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं, आप लोगों में से कितने लोग उन के सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं। यदि रखते भी हैं तो कुछ इने गिने लोग ही—लेकिन अमेरिका मे एक बड़ी भारी धर्म सभा हुई थी और वहाँ पर एक हिन्दू-सन्यासी भेजा गया था, इसे यहाँ का एक मजदूर तक भी जानता है। इससे जान पड़ता है कि हवा का रुख किस ओर को है, जातीय जीवन का मूल कहाँ है। देशी, विशेष कर विदेशी शिक्षित लोगों को प्राच्य देश वासियों की मूर्खता के लिये शोक प्रकट करते हुए सुनता था और एक साम में पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने वाले पर्यटकों की पुस्तकों में इन बातों को पढ़ा करता था। अब मैं समझता

हूँ कि उनकी बातें सच भी थीं, साथ ही झूठ भी थीं। इंगलैंड, फ्रान्स, अमेरिका, जर्मनी अथवा दूसरे किसी भी देश के एक किसान को पुकार कर पूछो कि तुम किस राजनीतिक दल के हो? वह आप को बतला देगा कि वह उदार दल का अथवा रक्षणशील दल का है। वह यह भी कहेगा कि वह किस को वोट देगा। अमेरिका का किसान जानता है कि वह रिपब्लिकन दल का है या डिमोक्रेट दल का। इतना ही नहीं, वह मुद्रा नीति के सबंध मे भी कुछ जानता होगा। लेकिन अगर उसके धर्म के संबन्ध मे पूछिये तो वह कुछ न बतलायेगा वह कहेगा कि इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानता, मैं सिर्फ गिर्जाघर जाता हूँ। अगर वह बहुत कहेगा तो यही कहेगा कि मेरे पिता ईसाई धर्म की अमुक शाखा के थे। वह जानता है कि गिर्जा में जाना ही उसके धर्म की इति श्री है।

दूसरी ओर फिर एक भारत के किसान से पूछिये। वह राजनीति के संबंध में कुछ नहीं जानता। वह आपके प्रश्न से विस्मित होकर 'हाँ' भर कह देगा। वह कहेगा, यह क्या बला है? वह साम्यवाद आदि सामाजिक आन्दोलनों के सम्बन्ध में, श्रम और पूँजी के सम्बन्व में तथा इस प्रकार के अन्यान्य विषयों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। उसने जीवन में कभी इस विषय को सुना भी नहीं है। वह कठोर परिश्रम करके जीविका अर्जन करता है, राजनीति या समाजनीति वह इतना ही

है ? वह अपने ललाट पर के तिलक को दिखला कर कहेगा कि मैं अमुक सम्प्रदाय का हूँ। धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर उसके मुँह से एक दो ऐसी बातें निकलेंगी जिससे मैं भी उपकृत हो सकता हूँ। मैं इसे अपने अनुभव से बतलाता हूँ। यह धर्म ही हमारी जाति की भित्ति है।

प्रत्येक मनुष्य में एक न एक विशेषता होती है, प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न मार्गो से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। हम लोग हिन्दू हैं, हम लोग कहते हैं कि अनन्त पूर्व जन्म के कर्मफल से मनुष्य का जीवन एक विशेष निर्दिष्ट मार्ग से चला करता है, क्योंकि अनन्त अतीत काल की कर्म समष्टि ही वर्त्तमान आकार मे प्रकाश पाती है। और हम लोग वर्त्तमान को जिस रूप में व्यवहार में लाते हैं, उसी के अनुसार ही हम लोगों का भावी जीवन गठित होता है। इसी कारण से देखा जाता है कि इस पृथ्वी में उत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति का एक न एक ओर झुकाव होता है। उसी रास्ते से मानो उसे चलना होगा। इस भाव को बिना ग्रहण किये उसे छुटकारा नहीं मिल सकता। जो बात एक व्यक्ति के सम्बन्ध में हैं, वह व्यक्ति समूह के सम्बन्ध में भी लागू होती है प्रत्येक जाति का एक न एक झुकाव हुआ करता है प्रत्येक जाति का मानो विशेष जीवनोद्देश्य होता है। प्रत्येक जाति को ही मानो सारी मनुष्य जाति के जीवन को बिलकुल पूर्ण करने के लिये कोई ए विशेष व्रत पालन करना होता है। अपने जीवन के उद्देश्य को कार्य रूप में परि-

पात करके प्रत्येक जाति को उस व्रत का उद्यापन करना होता है। आप निश्चय जानिये कि राजनीतिक वा सामरिक श्रेष्ठता कभी भी हमारी जाति का जीवन न रहा है और न भविष्य में ही कभी होगा। वो भी हम लोगों का अन्य जातीय जीवनोद्देश्य है। वह यह है, सारी जाति की आध्यात्मिक शक्ति को एकत्र करके उसकी रक्षा करना और जभी मौका हाथ लगे तभी उस एकत्रित शक्ति की नदी में सारे संसार को प्लावित कर जगत को भारत जो कुछ देना। जभी पारसी, ग्रीक, रोमन, दे सकता है, वह है धर्म अरब या अँग्रेजों ने अपनी अजेय सेना के बल पर दिग्विजय के लिए बाहर निकल कर विभिन्न जातियों को एक सूत्र में बांधा है तभी भारत का दर्शन और अध्यात्म विद्या इन सभी नए मार्गों से होकर संसार की विभिन्न जातियों की धमनियों में प्रवाहित हुई है। सारी मनुष्य जाति की उन्नति के लिये हिन्दुओं के पास भी कुछ देने को है। आध्यात्मिक प्रकाश ही संसार को भारत का दान है।

इस प्रकार अतीत काल के इतिहास को पढ़कर हम लोग देख पाते हैं कि जभी किसी प्रबल दिग्विजयी जाति ने पृथ्वी की विभिन्न जातियों को एक सूत्र में बाधा है, भारत के साथ अन्यान्य देशों की तथा जातियों का सम्मिलन हुआ है, चिर स्वातंत्र्य-प्रिय भारत की स्वतंत्रता जभी भंग हुई है, जभी ये बातें हुई हैं तभी उसके फल स्वरूप सारे संसार में भारतीय आध्यात्मिक नदी

का बाँध टूट पड़ा है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में विख्यात जर्मन दार्शनिक शोपेनहार* ने वेद के एक प्राचीन अनुवाद से एक फ्रान्सिसी नवयुवक द्वारा लेटिन में किए हुए अनुवाद को पढ़कर कहा था, "उपनिषदों को छोड़ कर हृदय को उन्नत करने वाला तथा शान्ति प्रदान करने वाला और कोई ग्रन्थ नहीं है। जीवित दशा में उसने मुझे शान्ति प्रदान किया है, मरने के बाद भी वह शान्ति देगा।" इसके बाद वह विख्यात जर्मन महर्षि भविष्यत् वाणी करता है कि "ग्रीकसाहित्य के पुनः अभ्युदय से संसार के विचारों में जो उथलपुथल मची थी, उससे भी अधिक शक्तिशाली और बहुत दूर व्यापी भाव क्रान्ति होगी।" आज उसकी भविष्यवाणी सफल हो रही है। जिनकी आँखे खुली हैं, जो पाश्चात्य जगत की भिन्न भिन्न जातियों के मन की गति को समझते हैं, जो चिन्ताशील हैं, और विभिन्न जातियों के सम्बन्ध में विशेष आलोचना करते हैं वे देखेंगे कि भारतीय विचार के इस घोर, अविराम प्रवाह के द्वारा जगत की भावगति, चाल चलन और साहित्य में

पाश्चात्य देशों में उपनिषद का प्रचार

---

* मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब के बड़े भाई दारा शिकोह ने फ़ारसी भाषा में उपनिषदों का अनुवाद किया। शुजाउद्दौला के राज-दरबार के फ्रेञ्च रेजाडेंट जेन्टिल साहब ने बर्नियर के द्वारा इस अनुवाद को अंक्वितिल पुपेरों नामक विख्यात पर्यटक और जेन्दअवस्ता के आविष्कर्ता के पास भेज दिया। उन्होंने उसका लेटिन भाषा में अनुवाद किया। इसी अनुवाद को पढ़कर शोपेनहार आकृष्ट हुआ था।

क्या क्या परिवर्तन हुए हैं। तौ भी भारतीय विचारों के प्रचार की एक विशेषता है। इसका थोड़ा सा आभास मैंने पहले ही दिया है।

भारतीय विचारों के प्रचार की विशेषता

लोगों ने कभी तलवार और गोले बारूद की सहायता से अपने भावों को नहीं फैलाया है। यदि अंग्रेजी में कोई शब्द है जिसके द्वारा जगत के दिए हुये भारत के दान को प्रकट किया जा सके—यदि अंग्रेजी में कोई ऐसा शब्द है जिसके द्वारा मानव जाति के ऊपर भारतीय साहित्य का प्रभाव प्रकट किया जा सके तो वह शब्द (Fascination) है। जिसका अर्थ मम्मोहिनी शक्ति है। वह हठात मनुष्य को मुग्ध करती है, सो बात नहीं, बल्कि वह धीरे धीरे अनजाने, मनुष्य के मन पर अपना प्रभाव फैलाती है। बहुतों को भारतीय विचार, भारतीय प्रथा, भारतीय आचार व्यवहार, भारतीय दर्शन, भारतीय साहित्य पहले पहल देखने से भद्दा जँचता है लेकिन यदि वे परिश्रम के साथ आलोचना करें, मन लगाकर भारत के ग्रंथों को पढ़ें भारत के आचार व्यवहार के महान् तत्वों को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करें तो यह देखने में आयगा कि सैकड़ा पीछे निन्नानवे मनुष्य भारतीय विचारों की सुन्दरता से मुग्ध हो जायँगे। संसार की आँखों के अन्तराल में स्थित, अश्रुत तथा महाफल देने वाले, उषाकाल मे बहनेवाली मन्द वायु की तरह यह शान्त सहिष्णु "सर्वसह" धर्म प्राण जाति विचार जगत मे अपना प्रभाव फैला रही है।

फिर प्राचीन इतिहास की पुनरावृत्ति आरंभ हुई है। आज दिन, जब कि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों के आघात से धार्मिक विश्वासों की दीवार चूर्ण विचूर्ण हो रहे है, जिस समय विभिन्न सम्प्रदाय मनुष्यों को अपने अपने म का अनुयायी बनाने का जो विशेष प्रयत्न कर रहे हैं, जिस समय आधुनिक पुरातत्व के अनुसंधान के प्रबल मूसलाधाव से प्राचीन बद्धमूल संस्कार काच के वर्तन की तरह चूर चूर हो रहे हैं, जिस समय पाश्चात्य देशों में मजहब केवल मूर्खों के लिये है और ज्ञानी लोग उससे घृणा करते हैं, उस समय भ के दर्शन, भारतवासियों के मन के सर्वोच्च भाव संसार के सामने प्रकाशित होना आरंभ हो गया है। इसी से आज ये सभी महान तत्व असीम अनन्त जगत का एकत्व, निर्गुण ब्रह्मवाद, जीवात्मा का अनन्त स्वरूप ब्रह्माण्ड का अन्तःतत्व—ये सभी तत्व पाश्चात्य जगत को वैज्ञानिक जड़वाद के हाथ से रक्षा करने में स्वभावतः अग्रसर हुआ है। प्राचीन सम्प्रदाय जगत को एक छोटे मिट्टी का ढेला मात्र समझता था और यह ख्याल करता था कि काल भी थोड़े ही दिन से आरम्भ हुआ है। देश काल और निमित्त के अनन्तत्व और सब से बढ़कर मनुष्य की आत्मा की महत्ता का विषय केवल

भारतीय धर्म युक्ति की भित्ति पर प्रतिष्ठित होने के कारण पाश्चात्य वैज्ञानिकों को अधर्म की ओर झुकने से बचाने को अग्रसर हुआ है।

हमारे प्राचीन शास्त्रों में वर्तमान था और सब समय यह महान् तत्व सब प्रकार के धर्मानुसंधान की भित्ति रहा है। जिस समय क्रमोन्नतिवाद, शक्तिसातत्य (Conservation of Energy) आदि आधुनिक भयानक मत सब तरह के कच्चे धर्मों के मूल में कुठाराघात कर रहे हैं उस समय उस मानवात्मा की अपूर्व सृष्टि ईश्वर की अद्भुत वाणी स्वरूप वेदान्त के अपूर्व हृदयग्राही, मन की उन्नति और विस्तार साधक तत्वों के अतिरिक्त क्या और कुछ शिक्षित मनुष्यों की श्रद्धा भक्ति को आकर्षण कर सकता है?

लेकिन मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि भारत के बाहर के देशों में भारतीय धर्म का प्रभाव कहते समय भारतीय धर्म के मूल तत्व—जिसकी बुनियाद पर भारतीय धर्म रूपी महल खड़ा है—की ओर मेरा लक्ष्य है। उससे निकली हुई शाखा प्रशाखा रूपी छोटी छोटी गौण बातें शताब्दियों से उसके साथ विजड़ित हो गई हैं, वह विभिन्न प्रथायें, देशाचार और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी अच्छे बुरे विचार 'धर्म' संज्ञा के अन्तर्गत नहीं हो सकते। हम यह भी जानते हैं कि हमारे शास्त्रों में दो प्रकार के सत्य का निर्देश किया गया है और दोनों में साफ साफ फर्क बतलाया गया है।—एक सनातन सत्य है। यह मनुष्य का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप ईश्वर के साथ मनुष्य का सम्बन्ध, ईश्वर का स्वरूप, पूर्णत्व, सृष्टितत्व की अनन्तता जगत

भारतीय धर्म के दो विभाग-सनातन और युग धर्म

शून्य से नहीं पैदा हुआ है, पूर्वस्थित किसी पदार्थ का विकास मात्र है, यह मतवाद, युग प्रवाह सम्बन्धी अद्भुत नियमावली और इस तरह के अन्यान्य तत्वों के ऊपर प्रतिष्ठित है। प्रकृति का सार्वजनोय सार्वकालिक और सार्वदेशिक विषय ये सभी सनातन तत्व की भित्ति हैं। इन्हें छोड़कर और अनेक गौण विषय भी हमारे शास्त्रों मे दिखलाई पड़ते हैं, उनके द्वारा हमारे दैनिक जीवन के कार्य नियमित होते हैं। उन्हें श्रुति के अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता है, वे वास्तव में स्मृतियों और पुराणों के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। इनके साथ ऊपर कहे हुए तत्वों का कोई सम्पर्क नहीं है। हमारी आर्य जाति के भीतर भी ये बातें क्रमश परिवर्तित होकर विभिन्न आकार में परिणत होती हैं, ऐसा देखने में आता है। एक युग के लिये जो विधान है, वह दूसरे युग के लिये नहीं है। जिस समय एक युग के बाद दूसरा युग आयगा वे फिर दूसरा रूप धारण कर लेंगी। महामना ऋषि लोग उत्पन्न होकर देश काल के उपयुक्त नये नये आचार प्रवर्तन करेंगे।

जीवात्मा, परमात्मा और ब्रह्माण्ड के इन सभी अपूर्व चित्र को उन्नत करने वाले, क्रमश विकाश शाली धाराओं के भित्ति स्वरूप महान् तत्व भारत में ही उत्पन्न हुए हैं। केवल भारत में ही मनुष्य क्षुद्र जातीय देवताओं के लिये 'मेरा ईश्वर सच्चा है, तुम्हारा ईश्वर झूठा है आओ, युद्ध द्वारा इस का निपटारा करें' कह कर पड़ोसियों के साथ झगड़ा फसाद नहीं करते। छोटे छोटे देवताओं के लिये युद्ध जैसे संकीर्ण भाव केवल इस भारत में ही

कभी दिखलाई नहीं पड़ते। ये सभी महान् मूल तत्व मनुष्यों के अनन्त स्वरूप के ऊपर प्रतिष्ठित होने से ही हजारों वर्षों पहले की तरह आज भी मनुष्य जाति के कल्याण के लिये शक्ति-सम्पन्न हैं। जब तक यह पृथ्वी क़ायम रहेगी, जब तक कर्मफल रहेगा, जब तक हम लोग व्यष्टि जीव रूप में जन्म लेते रहेंगे, और जब तक अपनी शक्ति के द्वारा अपना भाग्य स्वयं बनाना होगा तब तक उनकी यह शक्ति वर्तमान रहेगी।

सब से बढ़कर भारत संसार को क्या तत्व सिखायगा, यह बतलाते हैं। यदि हम लोग विभिन्न जातियों में धर्म की उत्पत्ति और परिणति की प्रणाली को गौर से देखें तो हमें सर्वत्र यही देखने में आयगा कि पहले प्रत्येक जाति के अलग अलग देवता थे। इन सब जातियों में यदि आपस में विशेष सम्बन्ध होता तो इन सभी देवताओं का एक साधारण नाम होता, जिस प्रकार बेबिलोनीय देवता है। जिस समय बेबिलोनियन भिन्न भिन्न जातियों में बँटे हुए थे उस समय उनके साधारण देवता का नाम बाल (Baol) था। इसी तरह यहूदियों के भिन्न भिन्न देवताओं का साधारण नाम 'मोलक' (Moloch) था। और भी देखने में आता है कि इन सभी विभिन्न जातियों में कोई खास जाति दूसरी जातियों से श्रेष्ठ हो जाती और यह अपने राजा को सभी का राजा कहने लगती थी। इस भाव से फिर स्वभावत यह होता कि यह जाति अपने देवता को भी और दूसरी जातियों का देवता मनवा लेती थी। बेबिलोनिया के लोग कहा करते थे कि बाल

मेरोडक देवता सब से बढ कर है और सभी देवता घटिया हैं। मोलक बामे और मोलकों से श्रेष्ठ समझे जाते थे। देवताओंका यह बड़प्पन तथा हीनता युद्ध के द्वारा निश्चित होता था। भारत में भी देवताओं का यह संघर्ष, यह प्रतिद्वन्दिता विद्यमान थी। प्रतिद्वन्दी देवता अपने बड़प्पन को कायम रखने के लिये आपस में प्रतियोगिता किया करते थे। लेकिन भारत के तथा सम्पूर्ण जगत् के सौभाग्य से इस अशान्ति और कोलाहल के बीच से 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद १। १६४। ४६) 'एक ही सत्ता है, साधु लोग उसे तरह तरह से वर्णन करते हैं।' यह पवित्र वाणी निकली थी। शिव, विष्णु की अपेक्षा बड़े हैं अथवा विष्णु ही सब कुछ हैं, शिव उनके मुकाबले कुछ नहीं हैं। यह बात नहीं थी। एक भगवान को ही कोई शिव, कोई विष्णु तथा और दूसरे नामों से पुकारते थे। नाम भिन्न भिन्न थे, परन्तु वस्तु एक ही थी। ऊपर कही हुई कई बात भारत के सम्पूर्ण इतिहास को पढ़ने से ज्ञात होंगी। सम्पूर्ण भारत का इतिहास तेजस्वी भाषा में उसी एक मूल तत्व की पुनरुक्ति मात्र है। इस देश में यह तत्व बार बार कहा गया है, अन्त मे वह इस जाति के रक्त के साथ मिल गया है, इस जाति की धमनियों में प्रवाहित खून की प्रत्येक बूँद में वह मिल कर नस नस में दौड़ रहा है। वह जातीय जीवन का एक अंग हो गया है, जिस वस्तु से यह विराट जातीय शरीर

पाश्चात्य देश में तथा भारत में विभिन्न देवताओं का संघर्ष

बना है, उसका अंग हो गया है। इस प्रकार यह भूमि दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखलाने के लिये प्रसिद्ध रही है। इसी शक्ति के बल पर हम लोग अपनी इस मातृ-भूमि में सभी धर्मों, सभी सम्प्रदायों को आदर पूर्वक स्थान देते आये हैं।

इस देश मे एक दूसरे के विरोधी बहुत से सम्प्रदाय हैं और सभी एक दूसरे का बिना विरोध किये ही रह रहे हैं। इस अपूर्व बात का मुख्य कारण है, दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता। तुम चाहे द्वैतवादी हो, चाहे अद्वैतवादी। तुम्हारा चाहे यह विश्वास हो कि तुम भगवान के दास हो, दूसरे का यह विश्वास हो वह भगवान के साथ अभिन्न है। लेकिन दोनों ही सच्चे हिन्दू हैं। यह किस प्रकार सम्भव है? इस महावाक्य को पढो, तभी तुमको मालूम होगा कि किस प्रकार यह संभव है, 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' हमारे देश भाइयो, सबसे बढकर इस तत्व को संसार को सिखलाना होगा। दूसरे देशों के बड़े बड़े लिखे लोग नाक-भौं सिकोड़ कर हमारे धर्म को मूर्ति-पूजक बतलाते हैं। मैंने उन्हें ऐसा करते देखा है, लेकिन वे लोग शान्ति के साथ यह नहीं सोचते कि उनके मस्तिष्क में कैसे भयानक कुसंस्कार मौजूद हैं। अब भी चारों तरफ यही भाव, यही घोर साम्प्रदायिकता, मन की यह तुच्छ संकीर्णता देखने में आती है। जो कुछ उनका है यह तो बहुत ही बहुमूल्य है। अर्थोपासना ही उनके मत में एक मात्र सद्व्यवहार है। उनका जो कुछ है, वही यथार्थ में उपार्जन की वस्तु है, और सब कुछ नहीं है। अगर वह मिट्टी

की कोई तुच्छ वस्तु बनाते हैं, अथवा किसी यन्त्र का आविष्कार करने में समर्थ होते हैं, तो और सब वस्तुओं को छोड़कर उसी को अच्छा कहना होगा ! ससार में शिक्षा का काफी प्रचार होने पर भी सर्वत्र यही दशा है। किन्तु वास्तविक जगत में अब भी शिक्षा की आवश्यकता है—संसार मे अब भी सभ्यता का प्रयोजन है। और कहाँ तक कहें, अब भी कहीं पर सभ्यता का आरंभ भी नहीं हुआ है। अब भी मनुष्यों में सैकड़ा पीछे ६६ लोग थोड़े बहुत अस भ्यावस्था में पडे हुए हैं। विभिन्न पुस्तकों में तुम ये सब बातें पढ़ सकते हो, दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता और इस प्रकार के तत्वों के सम्बन्ध में हम लोग भले ही पढ़ें, लेकिन मैं स्वयं अपने अनुभव से कहता हूँ कि वास्तव मे इस भाव की सत्ता संसार में बहुत कम है। सौ मे ९९ मनुष्य इन बातों को अपने मन में स्थान नहीं देते। पृथ्वी के जिस किसी भी देश में मैं गया हूँ, वहीं देखा है कि दूसरे धर्मावलम्बियों के ऊपर घोर अत्याचार हो रहे हैं। नये विषयों को सीखने के सम्बन्ध में पहले जो आपत्तियाँ पेश की जाति थीं, वे अब भी पेश की जाती हैं। ससार में जितना दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता और सहानुभूति है, वह कार्यरूप मे यहीं पर है, इसी आर्य-भूमि में वर्तमान है, और कहीं पर भी नहीं है। यहीं पर भारतवासी

उसके फल-स्वरूप केवल भारत में ही वास्तव में दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता मौजूद है

मुसलमानों के लिये मस्जिद, और ईसाइयों के लिये गिर्जा निर्माण करते हैं, और कहीं पर नहीं। अगर तुम किसी दूसरे देश में जाकर मुसलमानों से अथवा अन्य धर्मावलम्बियों को अपने लिये एक मन्दिर बनवाने के लिये कह तो देखो कि वे कैसी सहायता करते हैं इसके बदले में वे उस मन्दिर को, और वश चले तो तुम्हारे देह मन्दिर को भी फोड़ डालने की चेष्टा करेंगे। इसी कारण से जगत के लिये इस शिक्षा की विशेष आवश्यकता है। संसार को दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखलाने की शिक्षा देने की परम आवश्यकता है। शिव महिन्म स्तोत्र में कहा है।

"त्रयी सांख्यं योग पशुपति मतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद पथ्यमितिच।
रुचिनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नाना पथजुषा,
नृणामेको गम्य स्त्वमसि पयसामर्णव इव।"

अर्थात "वेद, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव इन सभी भिन्न भिन्न मतों के सम्बन्ध मे कोई किसी को अच्छा, किसी को हितकर बतलाता है, जिस प्रकार समुद्र में सभी नदियाँ जाकर मिल जाती हैं, वैसे ही रुचि भेद से सरल कुटिल नाना मार्गों के चलने वाले लोगों के लिये आप ही एक मात्र अभिष्ट स्थान हैं।"

भिन्न भिन्न मार्गों से लोग भले ही जा रहे हैं, किन्तु सभी एक स्थान को चले हैं। कोई किसी टेढे मेढ़े रास्ते से घूम फिर कर, अथवा कोई सरल रास्ते से जा सकता है, लेकिन अन्त में,

हे प्रभो, सभी आपके पास आयेंगे। तभी तुम्हारी भक्ति और तुम्हारी शिव दर्शन की सम्पूर्णता प्राप्त होगी, जब तुम इन्हें केवल शिवलिंग के ही रूप मे देखोगे सो बात 'नहीं', इन्हें सर्वत्र देखोगे। वही यथाथ मे साधु, वास्तव में हरि-भक्त हैं, जो ईश्वर को सब जीवों और सब भूतों में देख पाते हैं। अगर तुम वास्तव में शिव के भक्त हो तो तुम उन्हें सब जीवों और सब भूतों में देखोगे। जिस नाम वा जिस रूप में उनको क्यों न उपासना की जाय, यह समझना चाहिये कि यह उन्हीं की उपासना हो रही है। काबा की तरफ मुख करके कोई उठे बैठे अथवा गिर्जाघर में अथवा बौद्ध चैत्य मे जाकर उपासना क्यों न करे, ज्ञात रूप में अथवा अज्ञात रूप में वह उन्हीं की उपासना करता है। जिस किसी नाम से, जिस किसी मूर्ति के उद्देश्य से, जिस भाव से पुष्पाजलि क्यों न दी जाय, यह उन्हीं के पाद पद्मों में पहुँचेगी। क्योंकि वह सब के एक मात्र स्वामी हैं सब आत्मा के अन्तरात्मा स्वरूप हैं। संसार में किस वस्तु का अभाव है, इसे वह हमारी तुम्हारी अपेक्षा अधिक समझते हैं। सब तरह के भेद भाव दूर हो जाँय यह बिल्कुल असंभव है। भेद तो बना ही रहेगा। विचित्रता से रहित जीवन असंभव है। विचारों का यह संघर्ष और वैचित्र्य ही ज्ञान, उन्नति आदि सभी बातों के मूल में है। संसार मे अनेक तरह के प्रतिद्वन्दी भाव समूह मोजूद रहेंगे ही। लेकिन इस कारण से एक दूसरे से घृणा की जाय, एक दूसरे का विरोध किया जाय, इसका कोई

अर्थ नहीं। इस लिये उस मूल सत्य की शिक्षा फिर से देनी होगी जो केवल यहीं से प्रचारित हुई थी। और एक बार संसार के सामने इस सत्य का प्रचार करना होगा। मैं यह बात क्यों कह रहा हूँ? यह सिर्फ हम लोगों के ग्रन्थों में ही लिखा है, सो बात नहीं, हमारे जातीय साहित्य के प्रत्येक विभाग में, हमारे जातीय जीवन में यह प्रवेश कर गया है। केवल यहीं पर यह दैनिक जीवन में हो गया है और आँख वाले लोग स्वीकार करेंगे कि यहाँ को छोड़ कर और कहीं पर यह कार्य रूप में परिणत नहीं हुआ है। इस तरह से हम लोगों को जगत को शिक्षा देनी होगी। भारत इससे भी बढ़कर अन्यान्य उच्च भावों की शिक्षा देने में समर्थ हैं, लेकिन वह केवल पंडितों के लिये है। यह शान्त भाव, यह तितिक्षा, यह सहिष्णुता, यह सहानुभूति और भ्रातृ भाव रूपी महती शिक्षा बूढ़े, बच्चे, स्त्री-पुरुष, शिक्षित, अशिक्षित सब जाति सब वर्ण के लोग सीख सकते हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'।

है प्रभो, सभी आपके पास आयेंगे। तभी तुम्हारी भक्ति और तुम्हारी शिव दर्शन की सम्पूर्णता प्राप्त होगी, जब तुम इन्हें केवल शिवलिंग के ही रूप में देखोगे सो बात 'नहीं', इन्हें सर्वत्र देखोगे। वही यथाथ में साधु, वास्तव में हरि-भक्त हैं, जो ईश्वर को सब जीवों और सब भूतों में देख पाते हैं। अगर तुम वास्तव में शिव के भक्त हो तो तुम उन्हें सब जीवों और सब भूतों में देखोगे। जिस नाम वा जिस रूप में उनको क्यों न उपासना की जाय, यह समझना चाहिये कि यह उन्हीं की उपासना हो रही है। काबा की तरफ मुख करके कोई उठे बैठे अथवा गिर्जाघर में अथवा बौद्ध चैत्य मे जाकर उपासना क्यों न करे, ज्ञात रूप में अथवा अज्ञात रूप में वह उन्हीं की उपासना करता है। जिस किसी नाम से, जिस किसी मूर्ति के उद्देश्य से, जिस भाव से पुष्पाजलि क्यों न दी जाय, वह उन्हीं के पाद पदों में पहुँचेगी। क्योंकि वह सब के एक मात्र स्वामी हैं सब आत्मा के अन्तरात्मा स्वरूप हैं। संसार मे किस वस्तु का अभाव है, इसे वह हमारी तुम्हारी अपेक्षा अधिक समझते हैं। सब तरह के भेद भाव दूर हो जाँय यह बिल्कुल असंभव है। भेद तो बना ही रहेगा। विचित्रता से रहित जीवन असंभव है। विचारों का यह संघर्ष और वैचित्र्य ही ज्ञान, उन्नति आदि सभी बातों के मूल में है। संसार में अनेक तरह के प्रतिद्वन्दी भाव समूह मौजूद रहेंगे ही। लेकिन इस कारण से एक दूसरे से घृणा की जाय, एक दूसरे का विरोध किया जाय, इसका कोई

अर्थ नहीं। इस लिये उस मूल सत्य की शिक्षा फिर से देनी होगी जो केवल यहीं से प्रचारित हुई थी। और एक बार संसार के सामने इस सत्य का प्रचार करना होगा। मैं यह बात क्यों कह रहा हूँ? यह सिर्फ हम लोगों के ग्रन्थों में ही लिखा है, सो बात नहीं, हमारे जातीय साहित्य के प्रत्येक विभाग में, हमारे जातीय जीवन में यह प्रवेश कर गया है। केवल यहीं पर यह दैनिक जीवन में हो गया है और आँख वाले लोग स्वीकार करेंगे कि यहाँ को छोड़ कर और कहीं पर यह कार्य रूप में परिणत नहीं हुआ है। इस तरह से हम लोगों को जगत को शिक्षा देनी होगी। भारत इससे भी बढ़कर अन्यान्य उच्च भावों की शिक्षा देने में समर्थ है, लेकिन वह केवल पंडितों के लिये है। यह शान्त भाव, यह तितिक्षा, यह सहिष्णुता, यह सहानुभूति और भ्रातृ भाव रूपी महती शिक्षा बूढ़े, बच्चे, स्त्री-पुरुष, शिक्षित, अशिक्षित सब जाति सब वर्ण के लोग सीख सकते हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'।

भारत का भविष्य*

यह वही प्राचीन भूमि है जहाँ पर तत्व ज्ञान ने और देशों में जाने के पहले अपना निवास-स्थान बनाया था। यह वही भारत भूमि है, जहाँ का आध्यात्मिक प्रवाह सहस्र धारा वाली नदी के समान है। यह वही भारत है जिस भूमि की मिट्टी परमपूज्य ऋषि-महर्षियों के चरण-रज से पवित्र हो चुकी है, जहा पर पहले पहल अन्तर्जगत के रहस्य-उद्घाटन की चेष्टा हुई थी, जहा पर मानवी मन अपने स्वरूप के अनुसंधान के लिये पहले अग्रसर हुआ था। यहीं पर जीवात्मा के अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर और माया के संबन्ध में विचार उत्पन्न हुए थे। धर्म और दर्शन के सर्वोच्च आदर्श यहीं पर चरम विकाश को प्राप्त हुए थे। यह वही भूमि है जहाँ से धर्म और दार्शनिक तत्व-समूह ने बरसाती नदी के समान प्रवाहित हो सारे संसार को सराबोर कर दिया था और फिर यहीं से वैसी ही तरगें उत्पन्न होकर तेजरहित जातियों के भीतर जीवन और तेज का संचार करेंगी। यह वही भारत है जो सैकड़ों शताब्दियों

प्राचीन भारत

---

* यह व्याख्यान मद्रास में बड़े भारी जनसमूह के बीच दिया गया था।

के अत्याचार, अनेकों विदेशी आक्रमण और सैकड़ों प्रकार के राजनीतिक उथल-पुथलों को सहते हुये भी अक्षुण्ण बना हुआ है। यह वही भूमि है जो अपने अविनाशी वीर्य और जीवन के कारण पहाड़ की तरह, अब भी अचल होकर खड़ी है। हम लोगों के शास्त्रों मे वर्णित आत्मा जिस प्रकार अनादि, अनन्त और अमृत रूप है, हमारे इस भारत भूमिका जीवन भी वैसा ही है। और हम लोग इसी देश की सन्तान हैं।

हे भारत संतानो, मैं आज आप लोगों से बहुत काम की बातें कहने के लिये आया हूँ और भारत भूमि के पूर्व गौरव के स्मरण दिलाने का उद्देश्य आप लोगों को ठीक मार्ग पर चलाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मुझसे लोगों ने कई बार कहा है, कि पहले के गौरव के स्मरण से केवल मन की अवनति होती है, और दूसरा नतीजा नहीं निकलता, इसलिये हम लोगों को, भविष्यत् की ओर निगाह रख कर कार्य करना होगा। यह सच बात है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अतीत के गर्भ में ही भविष्य का जन्म होता है। इसलिये जहा तक हो सके, पीछे की ओर निगाह दौड़ाओ, पीछे की ओर जो अनन्त निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है, उसका जल खूब जी भर कर पान करो, इसके बाद सामने दृष्टि करके आगे को बढ़ो और भारत प्राचीन काल में जितने ऊँचे गौरव शिखर पर आरूढ़ हुआ था,

अतीत गौरव का चिन्तन भावी कार्यों के लिये उत्तेजक होता है

उसे उसकी अपेक्षा उच्चतर, उज्ज्वलतर और महिमाशाली करने का प्रयत्न करो। हम लोगों के पुरखे महापुरुष थे। हम लोगों को पहले यह जानना चाहिये। हम लोगों को पहले यह समझना चाहिये कि हम लोगों का गठन किस प्रकार से हुआ है, कौन सा रक्त हम लोगों की धमनियों में प्रवाहित हो रहा है। इसके बाद उन पुरुषों के खून में विश्वास रखकर, उनके अतीत काल के कार्यों में विश्वास जमा कर, उस अतीत की महत्ता की धारणा द्वारा उससे भी श्रेष्ठ भव्य भारत का गठन करना होगा यह ठीक है कि बीच बीच में यहां पर भी अवनति का यु आया है। मैं उसे ज्यादा ख्याल में नहीं लाता, हम सभी लोग उसे जानते हैं। उसकी भी आवश्यकता थी। एक बड़े भारी पे से सुन्दर पका फल उत्पन्न हुआ, वह फल मिट्टी में गिर गया और उससे फिर अंकुर जमा और वह फल से भी बढ़िया हुआ इसी प्रकार जिन अवनति के युगों के बीच से हम लोगों के आना पड़ा है, उसकी भी आवश्यकता थी। उसी अवनति से हं भावी भारत का अभ्युदय हो रहा है, अभी उसका अंकुर दिख लाई पड़ रहा है, उससे नये पत्ते निकल रहे हैं। एक बड़ा भारी "ऊर्द्ध मूलम्" वृक्ष बढ़ना आरम्भ हुआ है और मैं आज उसी के सम्बन्ध में आप लोगों से कुछ कहने के लिये यहाँ खड़ हुआ हूँ।

अन्यान्य देशों की समस्याओं से इस देश की समस्यायें जटिल और पेचीदी हैं। जाति-उपजाति का भेद, धर्म, भाषा

इस देश की समस्यायें दूसरे देशों से जटिल हैं

शासन-प्रणाली, इन सबों को लेकर एक जाति गठित हुई है। यदि एक एक जाति को लेकर इस जाति के साथ तुलना की जाय तो यह देखने में आएगा कि अन्यान्य जातिया जिस जिस उपादान से गठित हुई हैं, वह सख्या में उनसे कम है। आर्य, द्रविड़, तातार, तुर्क, मुग़ल, योरोपीय सभी जातियों का रक्त इस देश में रहा है।

धर्म ही इस जटिल समस्या की भी मांसा करने वाला है।

यहाँ पर भिन्न-भिन्न भाषाओं का अजब जमघट है और आचार व्यवहार में भारत की दो उपजातियों में विभिन्नता दिखलाई पड़ती है, उतना योरोपीय और पूर्वी जातियों मे भी भेद नहीं। हम लोगों का पवित्र परम्परागत उपदेश हमारा धर्म ही हम लोगों की सम्मिलन भूमि है—इसी भित्ति पर ही हम लोगों को जातीय गठन करना होगा। योरप में राजनीति ही जातीय ऐक्य की भित्ति है। किन्तु एशिया मे धर्म ही ऐक्य का मूल है। इसलिये भावी भारत के गठन मे धर्म की एकता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इस भारत के पूर्व से लेकर पश्चिम तक और उत्तर से लेकर दक्षिण तक सर्वत्र सब को एक धर्म स्वीकार करना होगा। एक धर्म की बात को मैं किस अर्थ मे व्यवहार करता हूँ? ईसाई, मुसलमान या बौद्धों में जिस प्रकार एक धर्म है, मैं उस तरह का धर्म नहीं कहता। मैं जानता हूँ, हम लोगों के विभिन्न सम्प्रदायों

भिन्न भिन्न धर्म-सम्प्रदायों में एकता लाना आवश्यक है

के सिद्धान्त में चाहे जितना ही क्यों हो, वे चाहे कितने ही मत भेद रखने वाले क्यों न हो, तो भी कितने सिद्धान्त ऐसे हैं, जिन पर सभी सम्प्रदाय एक मत हैं। इसलिये हमारे सम्प्रदायों के कितने साधारण सिद्धान्त हैं और उन्हें स्वीकार कर लेने पर हम लोगों का धर्म, सभी सम्प्रदायों और सभी व्यक्तियों को स्वतंत्र रूप से सोचने विचारने और कार्य करने की पूरी आजादी देता है। हम सभी लोग यह जानते हैं कि हम लोगों में जो लोग कुछ विचार शील हैं, वे ही इसे जानते हैं। और मैं चाहता हूँ कि हम लोगों के धर्म के जीवन-दाता साधारण तत्व इस देश के स्त्री-पुरु बूढ़े, जवान सब में प्रचारित हो जाँय। सभी लोग उन्हें जानें समझें और अपने जीवन मे उसे परिणत करने की चेष्टा करें इसलिये यही लोगों का प्रथम कार्य है। हम लोग देखते हैं कि

सर्वसाधारण में धर्म प्रचार ही जातीय-सम्मिलन का पहला मार्ग है

एशिया, विशेषत भारतवर्ष में जाति, भाषा तथा समाज सम्बन्धी सभी बाधायें धर्म की सम्मिलन कारिणी शक्ति के निकट उड़ जाती हैं। मैं जानता हूँ कि भारत वासियों की धारणा है कि आध्यात्मिक आदर्श से ऊँचा आदर्श और कुछ नहीं है, यही भारतीय जीवन का मूल मंत्र है। मैं यह भी जानता हूँ कि हम लोग थोड़ी ही बाधाओं के बीच कार्य करने में समर्थ हैं।

धर्म सब से ऊँचा आदर्श है, यह सच है, लेकिन मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता। मैं कहता हूँ कि भारत के लिये कार्य करने का यही एक मात्र उपाय है, धर्म मे दृढ़ हुए बिना दूसरी ओर निगाह डालने का परिणाम यह होगा कि हम लोगों का सर्वनाश हो जायगा। इसलिये भारत के भिन्न भिन्न धर्मों का सम्मिलन ही भावी भारत का प्रथम सेतु है, युग युगान्तर से अवस्थित इस भारत रूपी पर्वत पर यही सीढ़ी खोदनी पड़ेगी। हम लोगों को यह जानना होगा कि द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि के सभी सम्प्रदायों में हिन्दू धर्म के ही कितने एक साधारण भाव विद्यमान हैं। और हम लोगों के अपने कल्याण के लिये, अपनी जाति की भलाई के लिये आपस में छोटे छोटे विषयों को लेकर विवाद और वितंडावाद छोड़ने का समय आ गया है। यह निश्चय रूप से जानिये कि ये वादा-विवाद बिल्कुल भूल हैं, हमारे शास्त्र इसका तीव्र प्रतिवाद करते हैं। हम लोगों के पुरखे भी इसका अनुमोदन नहीं करते और जिनके वंशधर होने का हम लोग दावा करते हैं, जिनका रक्त हम लोगों की धमनियों में प्रवाहित हो रहा है, वे महापुरुष अपनी सन्तान को साधारण साधारण बातों को लेकर लड़ते देख कर अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते होंगे।

धर्म के साधारण तत्वों पर विश्वास जमा कर विरोध दूर करना कर्तव्य है

धर्म का इस प्रकार सम्मिलन होने के साथ ही साथ अन्यान्य

विषयों में भी उन्नति अवश्यम्भावी है। यदि रक्त साफ़ और ताजा रहे तो देह में कोई रोग का कीटाणु प्रवेश नहीं कर सकता। धर्म ही हम लोगों का रक्त है। यदि इस रक्त प्रवाह में कोई बाधा नहीं पहुँचे और वह शुद्ध और ताजा रहे तो सभी बातों में कल्याण होगा। यदि यह रक्त शुद्ध हो तो

धर्म की उन्नति से सभी उन्नति सभव है

राजनैतिक, सामाजिक अथवा और कोई भी बाहरी दोष हो—इतना ही नहीं, हमारे देश की घोर दरिद्रता भी—दूर हो जायेंगे। क्योंकि यदि रोग-जीवाणु ही शरीर से दूर हो जॉय तो उस रक्त में बाहरी वस्तु किस प्रकार से प्रवेश करेगी, आधुनिक चिकित्सा शास्त्र का उदाहरण देकर अपने विषय को और भी स्पष्ट करता हूँ। रोग होने पर दो बातों की आवश्यकता होती है। बाहरी कोई विषाक्त जीवाणु और उस शरीर की अवस्था विशेष। जब तक शरीर अपने में रोग-जीवाणु को प्रवेश करने नहीं देता, जब तक देह की जीवनी शक्ति क्षीण होकर रोग के जीवाणु को प्रवेश करने और बढ़ने नहीं देती तब तक संसार के किसी रोग-जीवाणु मे शक्ति नहीं कि वह शरीर में रोग उत्पादन कर सके। वास्तव में प्रत्येक शरीर में लाखों जीवाणु आते जाते रहते हैं, जब तक शरीर में तेज रहता है, तब तक उनके अस्तित्व का पता नहीं चलता। जब शरीर दुर्बल हो जाता है उसी समय ये जीवाणुयें शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। जातीय जीवन के सम्बन्ध मे भी यही

ात है। जिस समय जातीय शरीर दुर्बल हो जाता है, उस समय उस जाति का राजनैतिक, सामाजिक, मानसिक और शिक्षा सम्बन्धी विषयों में सब प्रकार के रोगाणु प्रवेश करते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। इसीलिये इसके प्रतिकार के लिये यह देखना होगा कि रोग का मूल कारण क्या है, और रक्त की सब तरह की खराबी दूर करनी होगी। उस समय एक मात्र कर्तव्य होगा—लोगों में शक्ति का संचार, रक्त का शुद्ध करना, शरीर को तेज युक्त करना जिससे वह सब तरह के बाहरी विषों को देह में प्रवेश करने से रोके और भीतरी विष को बाहर निकाल सके। हमने पहले ही देखा है, हम लोगों का धर्म ही हमारे तेज, वीर्य, यही क्यों, जातीय जीवन की मूल भित्ति है।

मैं इस समय यह विचार नहीं करने जा रहा हूँ कि धर्म सच्चा है या झूठा। न मैं यही विचार करने वाला हूँ कि धर्म ही हमारे जातीय जीवन की बुनियाद डालने में कल्याणकर होगा या अकल्याणकर। किन्तु अच्छा हो या बुरा, धर्म ही पर हमारे जातीय जीवन की भित्ति रही है। आप उसे छोड़ नहीं सकते। चिरकाल से वही आप लोगों के जातीय जीवन की भित्ति रहा है, इसलिये धर्म में मेरा जैसा विश्वास है, आप लोगों का वैसा विश्वास नहीं है, तो भी आप लोगों को इस धर्म का अवलम्बन करना ही होगा। आप इस धर्म-बन्धन में सदा से बँधे हुए हैं। अगर आप इसे छोड़ देंगे तो आप नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे। धर्म ही हम लोगों के जाति का जीवन स्वरूप है, इसे

दृढ़ करना होगा। आप लोग जो सैकड़ों शताब्दियों से अत्याचार सहते सहते अब भी जीते जागते हैं, उसका कारण यह है कि आपने यत्नपूर्वक उसकी रक्षा की है, उसके लिये और सब स्वार्थों का त्याग किया है। आपके पुरुखों ने इस धर्म की रक्षा के लिये सब कुछ साहसपूर्वक सहा था, यहीं क्यों, वे मृत्यु तक को आलिंगन करने के लिये तैयार रहते थे।

विदेशियों ने आकर मन्दिर पर मन्दिर गिराये हैं, लेकिन ज्योंही वे अत्याचार बन्द हुए हैं, फिर उस स्थान पर मन्दिर उठ गये हैं। अनेक ग्रन्थ पढ़कर जो नहीं सीखा जा सकता, वह गुजरात के सोमनाथ मन्दिर की तरह दक्षिणात्य के अनेक मन्दिर आपको सिखाये गे। आपकी जाति के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर बातें सिखायेंगे। आप उन्हें ध्यानपूर्वक देखेंगे तो पता चलेगा कि उक्त मन्दिर सैकड़ों आक्रमणों और सैकड़ों पुनरुभ्युदय के चिन्ह धारण किये हुए हैं। बार बार नष्ट होते हैं और फिर वह भग्नावशेष फिर नये रूप में उठ कर पहाड़ की तरह खड़े होते हैं।

पुराने मन्दिर शिक्षा के केन्द्र थे।

इसलिये यहीं पर इसी धर्म में हमारे जातीय मन, जातीय प्राण-प्रवाह देख पायेंगे। इसका अनुसरण कीजिये, आप महान् पद को प्राप्त होंगे। उसे परित्याग करने पर आप की मृत्यु निश्चित है। इस जातीय जीवन प्रवाह के विरुद्ध जाने

धर्म त्याग से नाश होगा

की चेष्टा करने पर उसका एक मात्र परिणाम होगा—
विनाश ! मैं यह बात नहीं कहता कि और किसी चीज की
आवश्यकता नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि
और सब चीजें गौण हैं, धर्म ही मुख्य है। भारतवासी सबसे
हले धर्म को चाहते हैं, इसके बाद अन्यान्य वस्तुओं को चाहते
। इस धर्म भाव को विशेष रूप से जागृत करना होगा।

यह किस प्रकार से सिद्ध होगा ? मैं आप लोगों से अपनी
ारी कार्य-प्रणाली बतलाऊँगा। जब मैं मद्रास से अमेरिका के
लेये रवाना हुआ उसके कई साल पहले से ही मेरे मन में ये
ंकल्प थे और मैं अमेरिका और इंगलैंड गया था, उसका कारण
ी यही था। धर्म-सभा के लिये मेरे मन में कोई बड़ी इच्छा न
थी, वह तो मेरे जाने का एक मौक़ा मिल
गया था। मेरे मन में जो सकल्प विकल्प
उठ रहे थे, उन्होंने मुझे समग्र संसार में
घुमाया है। मेरा वह संकल्प यही है क शास्त्रों में संचित,
मठों और वनों में गुप्त भाव से रक्षित, बहुत थोड़े लोगों
से अधिकृत धर्म-रत्नों को प्रकाश मे लाऊँ। शास्त्रों मे बन्द
तत्व जो थोड़े से लोगों के हाथ में गुप्तभाव से छिपे हुए
हैं उन्हें उनके हाथ से ले लेने ही से काम न चलेगा, उन्हें
उससे भी दुर्भेद्य पिटारी अर्थात जिस भाषा में ये तत्व
रक्षित हैं उसके शब्दों के आवरण से बाहर निकालना
पड़ेगा। थोड़े में मुझे यह कहना है कि मैं इन तत्वों को सर्व

ेरी कार्य प्रणाली

साधारण को बतला देना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि ये तत्व प्रत्येक भारतवासी की, चाहे वह संस्कृत जानता हो या न जानता हो, सम्पत्ति हो जाय। इस संस्कृत भाषा की, जो हम लोगों के लिये गौरव की वस्तु है, कठिनता ही इन भावों के प्रचार में एक बहुत बड़ी बाधा है। और जब तक हमारी सारी जाति (यदि यह सम्भव हो) अच्छी तरह से संस्कृत भाषा में पंडित न हो जाय, तब तक यह बाधा दूर नहीं हो सकती। संस्कृत भाषा कितनी कठिन भाषा है, यह बात आप इतना ही कहने से समझ जायँगे कि जीवन भर से इस भाषा का अध्ययन कर रहा हूँ तो भी प्रत्येक नया संस्कृत ग्रंथ ही मुझे नया जान पड़ता है। तब जिसे इस भाषा को अच्छी तरह से सीखने का कभी अवसर ही नहीं मिलता, उसके लिये यह कितना कठिन होगा, इसे आप लोग अनायास ही समझ जायँगे। इसलिये आप लोगों को चलती हुई भाषा में ही इन सब तत्वों की शिक्षा देनी होगी।

साथ साथ संस्कृत की शिक्षा भी होती रहेगी। क्योंकि संस्कृत की शिक्षा से ही, संस्कृत शब्दों के उच्चारण से ही जाति में, एक गौरव, एक शक्ति का भाव जागृत होगा। भगवान रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों को उठाने की कोशिश की थी, उनकी कोशिशों का यह फल हुआ था कि उनके जीवन में अद्भुत प्रभाव पड़ा था। किन्तु बाद में उनके कार्य का ऐसा बुरा परिणाम क्यों हुआ,

साथ साथ संस्कृत सिखाना होगा

उसका भी निश्चित कुछ कारण है क्योंकि उन आचार्यों के मरने के बाद एक शताब्दी भी न बीतने पायी थी कि उन्नति का मार्ग बन्द हो गया ? इसका उत्तर यही है कि उन्होंने नीची जातियों को उन्नत तो किया था, उन जातियों को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने की उनकी आन्तरिक इच्छा थी परन्तु उन्होंने सर्व साधारण में संस्कृत की शिक्षा देने की कोशिश नहीं की थी। यही नहीं, इतने बड़े ज्ञानी बुद्ध देव हुए उन्होंने भी सर्व-साधारण में संस्कृत की शिक्षा बन्द करके एक बड़ी जबर्दस्त भूल की थी। उन्होंने उस समय इसी बात की चेष्टा की थी कि शीघ्र से शीघ्र हमारे कार्य का फल निकले। इसलिये संस्कृत भाषा में लिखे हुए भावों को उस समय की प्रचलित भाषा पाली में अनुवाद करके उनका प्रचार किया था। उन्होंने यह अच्छा किया था, क्योंकि उन्होंने सर्वसाधारण की भाषा में लोगों को उपदेश दिया था। यह अच्छा ही हुआ था, उनके द्वारा प्रचारित भाव जल्द से जल्द चारों तरफ फैलने लगे थे, बहुत दूर दूर वे भाव चले गये थे, लेकिन साथ साथ संस्कृत भाषा का विस्तार होना भी उचित था। ज्ञान का विस्तार तो हुआ लेकिन उसके साथ साथ 'गौरव बुद्धि' और 'संस्कार' न पैदा हुआ। जब तक शिक्षा मज्जागत होकर संस्कार में परिणत नहीं हो जाती, तब तक ज्ञान अनेक प्रकार के भावों के बीच ठहर नहीं सकते। आप संसार को चाहे जितना भी ज्ञान दीजिये, किन्तु उसका विशेष फल न होगा। जब ज्ञान को मज्जागत हो संस्कार में परिणत होना

चाहिये। हम सभी लोग आधुनिक समय के ऐसी अनेक जातियों के विषय में जानते हैं जिनमें इस तरह के बहुत से ज्ञान हैं, लेकिन वे जातियाँ असभ्य जाति के समान हैं, वे बाघ के समान खू़ख्वार हैं, क्योंकि उनके ज्ञान संस्कारगत नहीं हुए हैं। सभ्यता की तरह ज्ञान भी है, जब तक वह भीतर को स्पर्श नहीं करता, भीतर की पशु-प्रकृति जागृत हो उठती है। इस तरह के कार्य ससार में होते रहे हैं। इसलिये इस विपत्ति से सावधान रहना होगा। सर्वसाधारण को प्रचलित भाषा में शिक्षा दो, उन्हें भाव दो, वे बहुत सी बातों को जान जायँगे। लेकिन इस बात का भी प्रयत्न करो कि उनका ज्ञान सस्कार मे भी परिणत होता जाय। जब तक ऐसा न कर सकोगे, तब तक सर्वसाधारण की चिर स्थायी उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। एक ऐसी जाति उठेगी जो सस्कृत भाषा सीखकर और सब जातियों से उन्नति हो जायगी और उनपर पहले की तरह प्रभुत्व करेगी। हे नीचो जाति के लोगो, मैं आप लोगों से कहता हूँ कि तुम्हारी अवस्था के उन्नत करने का एक मात्र उपाय सस्कृत भाषा का सीखना है और ऊँची जातियों के विरुद्ध जो वादाविवाद चल रहा है, वह व्यर्थ है। उससे कोई फल नहीं निकल सकता। उससे कल्याण नहीं हो सकता। उससे अशान्ति की आग जल उठेगी और दुर्भाग्य से पहले ही से अनेक भागों में विभक्त यह जाति क्रमश और भी कई भागों में बँट जायगी। जाति भेद को उठा देने और साम्य भाव के लाने का एकमात्र उपाय ऊँची जातियों की शिक्षा

देना है। जिनके द्वारा उनमें तेज और गौरव की वृद्धि होगी। यदि आप लोग यह कर सकेंगे तो आप जो चाह रहे हैं, उसे पा जॉयगे।

इसके साथ मैं एक और प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ। इस प्रश्न का मद्रास से विशेष सबंध है। एक मत है कि दक्षिणात्य मे आर्यावर्त के रहने वाले आर्यों से बिल्कुल पृथक द्राविड जातियों का निवास था, केवल दक्षिणात्य के ब्राह्मण ही आर्यावर्त निवासी ब्राह्मणों से उत्पन्न हैं, इसलिये दक्षिणात्य की अन्यान्य जातियाँ दक्षिण के ब्राह्मणों से बिल्कुल पृथक हैं। यहाँ पर

सारा भारत ही आर्यमय है

पुरातत्व के जानने वाले विद्वान लोग मुझे क्षमा करेंगे, मैं कहता हूँ कि यह बात बिल्कुल बेबुनियाद है। इसका एकमात्र प्रमाण यही है कि आर्यावर्त और दक्षिणात्य की भाषा में भेद है मैं तो और कोई भेद नहीं देख पाता। हम लोग यहाँ पर इतने आर्यावर्त के लोग विद्यमान हैं। मैं अपने युरोपियन भाइयों को आह्वान करता हूँ कि वे यहाँ पर एकत्रित आर्यावर्त और दक्षिणात्य के लोगों को अलग अलग कर देवें। उनमें भेद कहाँ पर है। सिर्फ भाषामात्र का भेद है। उपरोक्त मत वाले कहते हैं कि दक्षिणी ब्राह्मण जब आर्यावर्त से यहाँ पर आये तो वे संस्कृत बोलते थे। यहाँ पर आकर द्राविड़ी भाषा बोलते बोलते संस्कृत भाषा भूल गये। यदि ब्राह्मणों के सम्बन्ध में यह बात है तो और जातियों के

सम्बन्ध में वह बात क्यों नहीं हो सकती ? अन्यान्य जातियाँ भी आर्यवर्त की रहने वाली थीं। उन्होंने भी दक्षिण में आकर संस्कृत भूलकर द्रविड़ भाषाओं को सीख लिया, यह बात क्यों नहीं हो सकती ? जिस युक्ति के द्वारा आप दक्षिणात्य के रहने वाले ब्राह्मणेतर जातियों को अनार्य कह रहे हैं, मैं उसी युक्ति के द्वारा उन्हें आर्य प्रमाणित कर सकता हूँ। ये सब बेवकूफी की बातें हैं। इन सब बातों पर आप विश्वास न करें। यह हो सकता है कि एक द्राविड़ जाति थी उसका इस समय लोप हो गया है, जो बचे हैं, वे जङ्गलों में निवास करते हैं यह बहुत सम्भव है कि यह द्रविड़ भाषा भी संस्कृत के बदले में ग्रहण की गयी है, किन्तु सभी आर्य हैं, आर्यावर्त से दक्षिणात्य को आये हैं। सम्पूर्ण भारत आर्यमय है, यहा पर और कोई जाति नहीं है। फिर एक दूसरा मत है कि शूद्र लोग निश्चय ही अनार्य जाति हैं-वे आर्यों के दास हैं। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि इतिहास में जो एक बार होता है, उसकी पुनरावृत्ति होती है जिस कारण से अंग्रेज, पुर्तगीज, डच लोग बिचारे अफ्रीका के मूल जातियों को जीते जी पकड़ कर उनसे खूब काम लेते रहे हैं और उन्हें जान से मार भी देते रहे हैं, जिस कारण से इन जातियों से उत्पन्न वर्ण-संकर सन्तानों को क्रीतदास बना लिया जाता था और बहुत दिन तक उसी दशा में रखा जाता था, वैसे ही हजारों वर्षों पहले यहा भी होना संभव है। पुरातत्व के विद्वान स्वप्न में देख सकते हैं कि भारत काली काली आंख वाली

ादिम जातियों से पूर्ण था, गौर वर्ण वाले आर्य वहा पर वास करने लगे। वे कहा से उड़कर वहा पर आ गये, इस बात को ईश्वर ही जाने। किसी किसी के मत से मध्य तिब्बत से वे आये और कोई कोई कहते हैं कि मध्य एशिया से आये। बहुत से स्वदेश-हितैपी अंग्रेज ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि सभी आर्य लोग पीले बाल वाले थे। कुछ ऐसे भी हैं जो अपनी पसन्द के अनुसार उन्हें काले बाल वाला भी ठहराते हैं। लेखक के बाल यदि काले हैं तो वे आर्यों को भी काले बाल वाला समझते हैं। इस समय इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रयत्न हो रहा है कि आर्य लोग स्वीट्जरलैण्ड के झीलों के तट पर वास करते थे। अगर ऐसे विद्वान वहा पर इन सब मतामतों को लेकर डूब मरते तो मैं बहुत दुखित नहीं होता। आजकल कोई कोई कहते हैं कि वे उत्तरी ध्रुव के निवासी थे। आर्य लोग और उनके निवास-स्थान को लेकर क्या मरा जाय? हम लोगों के शास्त्रों में इसके लिये कोई प्रमाण है या नहीं, यदि इसका अनुसंधान किया जाय तो पता चलेगा कि हम लोगों के शास्त्रों में इन मतों के समर्थन के लिये कोई वाक्य नहीं है। ऐसा कोई भी वाक्य नहीं जिससे आर्यों को भारत के बाहर किसी देश का निवासी समझा जा सके, और अफगानिस्तान प्राचीन भारत के अन्तर्गत था। शूद्र जाति के लोग सभी अनार्य हैं और वे बहुसंख्यक थे, यह सब कहना भी ठीक नहीं। उस समय कुछ थोड़े से उपनिवेश बसाने वाले आर्यों के लिये सैकड़ों हजारों अनार्यों के साथ

मुकाबला करना संभव नहीं था। वे पाच मिनट में ही आर्यों को पीस डाले होते।

जाति भेद की एक मात्र ठीक ठीक मीमासा महाभारत ही में पायी जाती है। महाभारत में लिखा है कि सत्य युग के आरंभ में केवल ब्राह्मण जाति थी। भिन्न भिन्न पेशे इख्तियार करके वे भिन्न भिन्न जातियों में बट गये। जाति भेद समस्या की जितनी भी व्याख्यायें सुनने में आती हैं, उनमें यही एक सच्ची युक्तियुक्त व्याख्या है। आगामी सत्ययुग मे फिर ब्राह्मणेतर सभी जातियाँ ब्राह्मणों के रूप में परिणत हो जाँयगी। इसलिये भारत की जाति भेद समस्या की मीमामा इस प्रकार है कि उच्च वर्ण वालों को हीन नहीं बनाया जा सकता, ब्राह्मणों का लोप नहीं करना होगा। भारत में ब्राह्मण ही मनुष्यत्व के परम आदर्श हैं। शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य की भूमिका में इस भाव को बहुत सुन्दर रूप में स्पष्ट किया है। श्रीकृष्ण के अवतार का कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि श्रीकृष्ण ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिये अवतीर्ण हुए थे। यही उनके अवतार का महान उद्देश्य था। ऐसे ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञपुरुष, इस आदर्श और सिद्ध पुरुष की आवश्यकता है, ब्रह्मज्ञ पुरुष के लोप हो जाने से काम नहीं चल सकता। आधुनिक जाति प्रथा में चाहे जितनी भी बुराई हो, परन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि और दूसरी जातियों

जाति भेद समस्या की मीमासा महाभारत में मौजूद है

। अपेक्षा उन्हीं में अधिकाश प्रकृत ब्राह्मणत्व-सम्पन्न व्यक्तियों
। अभ्युदय हुआ है। यह सत्य है। अन्यान्य जातियों को उन्हें
न का गौरव देना होगा। हम भले ही उनमे दोष निकालें, पर
ाथ ही जितनी प्रशंसा के वे योग्य हैं, जितने गौरव के वे
ाधिकारी हैं, उसे स्वीकार ही करना होगा। 'प्रत्येक व्यक्ति को
। उचित है, दे दो' यह अंग्रेजी के एक प्रचलित वाक्य का भाव
। इसलिये हे भाइयो, भिन्न भिन्न जातियों में विवाद की
ावश्यकता नहीं है। उसका क्या फल होगा? उससे तो हम
ोग और भी विभक्त हो जाँयगे, हम लोग और दुर्बल हो
ाँयगे, अवनत हो जाँयगे। एकाधिकार के दिन चले गये।
ौर यही इस भारत में अंग्रेजों के अधिकार का एक बड़ा अच्छा
रिणाम हुआ है।

यही क्यों, मुसलमानों के अधिकार ने भी एकाधिकार को
ाश करने मे बड़ा काम किया है। मुसलमानी राज्य बिल्कुल
ुरा था, यह भी नहीं कहा जा सकता। संसार की कोई भी वस्तु
बिल्कुल खराब नहीं है और न कोई चीज
बिल्कुल अच्छी ही है। भारत पर मुसल
मानों के शासन का फल यह हुआ कि
बहुत से दरिद्र पद-दलित लोगों का उद्धार

ुसलमान और अंग्रेजो
ासन का सुफल

ो गया। इसी से हम में से पंचमाश लोग मुसलमान हो गये
है। केवल यह तलवार के बल से नहीं हुआ है। इतने लोग
केवल बन्दूक तलवार के बल से मुसलमान हो गये थे, यह

कहना बिल्कुल पागलपन है। और अगर आप लोग स
न होंगे तो मद्रास प्रान्त के पंचमाश ही क्यों, आधे लोग
हो जाँयगे। मालाबार मे मैंने जो कुछ देखा है, उससे -
संसार मे और ज्यादा बेवकूफी की बात क्या हो सकती
बेचारी पारिया जाति को उच्च वर्ण वालों के साथ एक
जाने नहीं दिया जाता, लेकिन ज्योंही वे ईसाई होकर
पिन्टू अंग्रेजी नाम रख लेते हैं या मुसलमान होकर मुसल
नाम रख लेते हैं, तब वे पाप हो जाते हैं, उन्हें कोई रोक
नहीं रहती, इस तरह के देशाचार देखकर इसे छोड़ कर
क्या कहा जा सकता है कि मालाबार के लोग पागल हैं। उ
घर पागलखाना हैं और जब तक वे लोग अपनी प्रथा
आचार मे संशोधन नहीं करते तब तक वे सभी के घृणा के
रहेंगे। इस तरह की दूषित और राक्षसी प्रथा अब भी वे
टोक के धनी हुई हैं, यह क्या उनके लिये लज्जा की बात
है ? अपने लड़के भूख के मारे मर रहे हैं, वे दूसरे के
जा रहे हैं, क्या यह लज्जा की बात नहीं है ?

ऊँची जाति वालों को नीचा करने से भी यह समस्या ह
नहीं हो सकती। नीची जातियों को उन्नत करने से ही
समस्या हल होगी। यद्यपि बहुत से लोग जिन्हें शास्त्र
और प्राचीन पुरुषों के महान् उद्देश्यों को समझने की शक्ति
नहीं, कुछ दूसरा ही कहते हैं, तो भी यही हम लोगों के शास्त्र
में बतलाई हुई कार्य प्रणाली है। वे यह नहीं समझ सके

चीन शास्त्रकारों की
तीयभेद की समस्या
-नीच जाति को
मश उन्नत करना

किन्तु जिन्हें दिमाग है, जिन्हें धारणा शक्ति है, वे भी प्राचीन काल के लोगों की कार्य प्रणाली और बुद्धि को समझ सकते हैं। वे दूर रहते हुए अनन्त युग से जातीय जीवन का जो अपूर्व प्रवाह चल रहा है, उनकी आदि से लेकर न्त तक की आलोचना करते हैं। वे प्राचीन और आधुनिक ास्त्र में प्राचीन ऋषियों की कार्य-प्रणाली को देखते हैं।

वह कार्य-प्रणाली क्या है ? एक ओर ब्राह्मण, दूसरी ओर चाण्डाल और चाण्डाल को क्रमश ब्राह्मणत्व, प्रदान करना ही उनकी कार्य-प्रणाली थी। उनके बाद के जो ग्रन्थ हैं उनमें भी देखने में आता है कि नीची जातियों को क्रमश उच्चाधिकार दिया गया है। ऐसे भी शास्त्र हैं जिनमें इस प्रकार के कठोर वाक्य पाये जाते हैं कि यदि शूद्र वेद-श्रवण करें तो उनके कान में गर्म गर्म शीशा डाल देना चाहिये, अगर वे वेद को स्मरण रखें तो उन्हें काट डाला जाय। अगर वे ब्राह्मण को 'हे ब्राह्मण' कह कर पुकारें तो उनकी जीभ छेद दी जाय। यह प्राचीन राक्षसी बर्बरता है, इसमे कोई सन्देह नहीं। और यह भी कहना अनुचित न होगा कि इसमे व्यवस्थापकों को कोई दोष नहीं दिया जा सकता, उन्होंने समाज की कुछ प्रथा को लिखा भर है। उन प्राचीन पुरुषों के भीतर कभी कभी आसुरिक प्रकृति के लोग उत्पन्न हो गये थे। सभी युग मे सब स्थान

पर थोड़े बहुत आसुरिक प्रकृति के लोग होते ही रहे हैं। बाद की स्मृतियों को देखने से पता चलता है कि उनमें शूद्रों के प्रति कठोरता का व्यवहार कुछ कम हो गया है, 'शूद्रों के प्रति निष्ठुर व्यवहार की आवश्यकता नहीं, लेकिन उन्हें वेदादि की शिक्षा नहीं देनी चाहिये।' क्रमश इसके बाद वाली स्मृतियों में, जो आज कल के युग के लिये बनाई गई हैं, यह लिखा हुआ है कि यदि शूद्र लोग ब्राह्मणों का आचरण करें तो वे बहुत अच्छा करते हैं, उन्हें इसके लिये उत्साहित भी करना चाहिये। इस प्रकार ज्यों ज्यों दिन बीतते जाते हैं, त्यों त्यों शूद्रों को अधिकाधिक अधिकार मिलते जाते हैं। इस तरह से मूल कार्य प्रणाली भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न भावों में किस तरह से परिणत हुई अथवा विभिन्न शास्त्रों का अनुसंधान करके उनके विस्तृत विवरण का किस तरह पता चलेगा, इसे बतलाने को मुझे मौका नहीं है, किन्तु इस विषय पर सीधे-सादे ढङ्ग पर विचार करके देखने पर पता चलता है कि सभी जातियों को धीरे २ उठना होगा। अब भी जो हजारों जातियां हैं, उनमें से बहुत सी जातियां ब्राह्मण होगई हैं। क्योंकि अगर कोई जाति अपने को ब्राह्मण कहने लगे तो दूसरा कर ही क्या सकता है? जाति भेद चाहे जितना भी कठोर हो, यह इसी तरह से बना है। मान लीजिये, कई जातिया हैं, उनमे से हर एक जाति में दस दस हजार व्यक्ति

जाति भेद की कठोरता रहते हुए भी विभिन्न जातियों की क्रमोन्नति

हैं। अगर वे सब मिलकर अपने को ब्राह्मण कहने लगें तो कोई उन्हें रोक नहीं सकता। मैंने स्वयं अपने जीवन में यह देखा है। कई जातियां शक्तिशाली हो जाती हैं और जब वे एक मत होती हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है? इसका कारण यह है कि प्रत्येक जाति के साथ दूसरी जातियों का कोई सम्पर्क नहीं है। एक जाति दूसरी जाति के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करती—इतना ही नहीं, एक जाति की उपशाखायें भी एक दूसरे के कार्य में बाधा नहीं डालती।

शंकराचार्य आदि बड़े बड़े आचार्य जाति का सङ्गठन करने वाले थे। उन्होंने जो जो अद्भुत कार्य किये हैं, उन्हें मैं आप लोगों से नहीं कह सकता और मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उससे आप लोगों में से कोई कोई नाराज भी हो सकते हैं। लेकिन मैंने भ्रमण द्वारा और अनुभव से इसका समाधान पाया है और मैंने इस गवेषणा का अद्भुत फल प्राप्त किया है। समय समय पर वे झुण्ड के झुण्ड आदमियों को क्षत्रिय बना डालते थे, झुण्ड के झुण्ड आदमियों को ब्राह्मण बना डालते थे। वे सभी ऋषि मुनि थे, हम सब लोगों को उनके कार्यों को बड़ी श्रद्धा भक्ति की दृष्टि से देखना चाहिये। आप लोगों को ऋषि मुनि होना पड़ेगा। यही सफलता होने का गूढ़ उपाय है। थोड़ा बहुत सब लोगों को ऋषित्व सम्पन्न होना पड़ेगा। ऋषि शब्द का अर्थ क्या है? शुद्ध भाव वाले

शंकराचार्य आदि आचार्य नयी जाति के स्रष्टा थे

कार्य करने का उपाय है ऋषित्व की प्राप्ति

व्यक्ति। पहले शुद्ध चित्त वाले बनो, तुम में शक्ति आ जायगी केवल ऋषि कहने भर से काम न चलेगा। लेकिन ज[ब] तुम यथार्थ ऋषित्व प्राप्त करोगे, तो तुम देखोगे कि को[ई] भी तुम्हारी बात सुने बिना न रहेगा। तुम्हारे भीतर एक आश्चर्यजनक वस्तु आकर दूसरे के मन पर प्रभाव डालेगी इससे वे बाध्य होकर तुम्हारे अधीन हो जायँगे और बाध्य हो कर तुम्हारी बात सुनेंगे। इतना ही नहीं वे अपनी इच्छा के विरुद्ध ही तुम्हारे संकल्पित कार्य-सिद्धि में सहायक होंगे। यही ऋषित्व है।

मैंने जो कुछ कहा, उससे कार्य प्रणाली का कुछ विशेष वर्णन नहीं हुआ। वंश-परम्परा के अनुसार पूर्वोक्त भाव से कार्य करते करते विशेष विशेष कार्य करने के ढँग आप से आप मालूम होते जायँगे। वाद-विवाद करने की कुछ जरूरत नहीं, इसी बात को दिखलाने के लिये मैंने यहा पर दो एक बातों का आभास दिया है, मेरे अधिकाश दुख का कारण यह है कि आज कल भिन्न भिन्न जातियों में [illegible] खूब वाद-विवाद हो रहा [illegible] हो [illegible]। दोनों पक्ष को इससे कुछ [illegible]। [illegible] चले गये। [illegible]
समाधि [illegible]
ही उन [illegible]
उतना [illegible]

ही भयानक होगी। इस कारण से ब्राह्मण

ब्राह्मण जाति का कर्तव्य है सर्वसाधारण को धर्म और विद्या का दान देना

जाति का कर्तव्य है—कि वह भारत की दूसरी सभी जातियों के उद्धार की चेष्टा करे। यदि वे लोग ऐसा करते हैं और जितने दिन तक करते हैं, उतने ही दिन तक वे लोग ब्राह्मण हैं, लेकिन अगर वे केवल रुपये के लालच मे इधर उधर घूमते रहेंगे तो उन्हें ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। और आप लोगों का भी कर्तव्य है कि आप लोग असली ब्राह्मणों की सहायता करे। इसी से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। लेकिन अपात्र को दान देने से उसका फल स्वर्ग की प्राप्ति न होकर उसका उल्टा ही होगा, हमारे शास्त्र ने यही कहा है। इस विषय मे आप लोगों को सावधान रहना होगा। वे ही यथार्थ ब्राह्मण हैं जो सासारिक कोई कार्य कर्म नहीं करते। सासारिक कर्म दूसरो जातियों के लिये है, ब्राह्मणा के लिये नहीं। मैं ब्राह्मणों को ललकार करके कहता हूँ कि वे जो कुछ जानते हैं, उसे सिखा कर, सैकड़ों शताब्दियों से जो ज्ञान और अनुभव उन्होंने प्राप्त किया है, उसे दान देकर भारतवासियों को उन्नत करने के लिये उन्हें प्राणप्रण से चेष्टा करनी होगी। भारतीय ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे इसको स्मरण रखें कि प्रकृत ब्राह्मणत्व क्या है। मनु ने कहा है—

ब्राह्मणो जायमानोहि पृथिव्यमधिजायते।
ईश्वर सर्वभूताना धर्मकोशस्य गुप्तये । १ । ६६

अर्थात् ब्राह्मणों को जो इतना सम्मान और विशेष अधिकार दिये गये हैं, उसका कारण यह है कि उनके पास धर्म का भंडार है। उन्हें इस भंडार को खोलकर उसमे के संचित रत्नों के समूह संसार भर में वितरण करना होगा। यह सच बात है कि भारतीय अन्यान्य जातियों में ब्राह्मणों ने ही पहले पहल धर्म तत्व का प्रकाश किया और उन्होंने सब से पहले जीवन को गूढ़तम समस्याओं के रहस्य को प्राप्त करने के लिये अपना सब कुछ त्याग दिया था। ब्राह्मणों ने अन्यान्य जातियों से अधिक उन्नति की थी, इसमें उनका अपराध ही क्या था?

ब्राह्मणेतर जातियों का कर्तव्य

दूसरी जातियों ने क्यों नहीं ज्ञान प्राप्त किया, क्यों नहीं उनको तरह कर्म किये? उन्होंने पहले आलसी हो चुपचाप बैठ कर कछुए और खरहे की दौड़ की बाजी का अनुभव क्यों नहीं किया?

तो भी बात यह है कि दूसरों से आगे बढ़ जाना और सुविधा पाना एक बात है, और बुरे व्यवहारों के लिये उन्हें पकड़ रखना दूसरी बात है। जब शक्ति का बुरे उद्देश्य से व्यवहार होता है तो वह आसुरिक भाव धारण कर लेती है, अच्छे उद्देश्य से ही क्षमता का व्यवहार करना होगा। इसलिये सैकड़ों हजारों शताब्दियों से संचित शिक्षा और संस्कार के जो इतने दिनों से रक्षक

विदेशी आक्रमण का कारण था ब्राह्मणेतर जातियों को धर्म और विद्या से वंचित रखना

हैं, उन्हें सर्वसाधारण को देना होगा। और उन्होंने सर्वसाधारण को इतने दिन तक नहीं दिया, इसी कारण से ही मुसलमानों का आक्रमण संभव हुआ था। उन्होंने सर्वसाधारण में इस भंडार को नहीं बाँटा, इसी से हजार वर्ष से जिस किसी के मन मे आया, उसी ने भारत में आकर हम लोगों को कुचला। इसी से हम लोगों की इतनी अवनति हुई है।

हम लोगों का सबसे पहले कर्तव्य यह है कि हमारे पूर्व पुरुषों ने भंडार मे जो अपूर्व रत्न संचित कर छिपा रखे हैं, उन्हें निकाल कर प्रत्येक को देवें। ब्राह्मणों को ही यह कार्य सब से पहले करना होगा। बङ्गाल में एक पुराना कुसंस्कार है कि जो साँप काटे, वह अपना विष यदि स्वयं खींच ले तो वह रोगी बच जायगा। इसलिये ब्राह्मणों को अपना विष खींचना पड़ेगा।

ब्राह्मणेतर जातियों से मैं कहता हूँ कि भाई, प्रतीक्षा करो, घबड़ाओ नहीं। मौका पाते ही ब्राह्मणों पर आक्रमण न करो। क्योंकि मुझे आप लोगों को दिखलाना है कि आप लोग अपने दोष से ही कष्ट पा रहे हैं। आप लोगों को आध्यात्मिकता उपार्जित करने और संस्कृत सीखने से किसने मना किया था? इतने दिन आप लोग क्या करते थे? आप लोग इतने दिन तक उदासीन क्यों कर थे? दूसरे लोग आप से अधिक मेधावी, अधिक वीर्यवान, अधिक साहसी और अधिक क्रियाशील थे,

ब्राह्मणेतर जातियों की उन्नति होने के लिये संस्कृत का पढना आवश्यक है।

इससे आप नाराजी क्यों दिखला रहे हैं ? समाचार-पत्रों में इन व्यर्थ के वादप्रतिवाद में पड़ कर घर ही में फूट न डालो, बल्कि अपनी सारी शक्ति लगा कर उस शिक्षा को प्राप्त करो जिसके बल पर ब्राह्मण इतने गौरव के अधिकारी रहे हैं, तभी आपका उद्देश्य सिद्ध होगा। आप संस्कृत भाषा के पंडित क्यों नहीं होते ? आप भारत की सारी जातियों में संस्कृत की शिक्षा फैलाने के लिये लाखों रुपये खर्च क्यों नहीं करते ? मैं आप लोगों से यही पूछता हूँ। आप जभी यह सब करेंगे, तभी आप लोग ब्राह्मणों के समान हो जायँगे। भारत पर अधिकार पाने का यही रहस्य है।

संस्कृत भाषा का पंडित होने से ही भारत में सम्मान पा सकते हो। संस्कृत भाषा का ज्ञान होने से कोई आपके विरुद्ध बोलने का साहस न करेगा। यही एक मात्र रहस्य है, इसी मार्ग का अवलम्बन करो। अद्वैतवाद की प्राचीन उपमा लेकर अगर कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि सारा संसार अपनी माया में अपने आप ही मुग्ध हो रहा है। संकल्प ही संसार में अमोघ शक्ति है। दृढ़ इच्छा-शक्ति वाले पुरुषों के शरीर से मानो एक प्रकार का तेज निकला करता है, और उनका मन जिस अवस्था में रहता है, वैसा ही वे दूसरे के मन को भी बना देते हैं। इस तरह की दृढ़ इच्छा-शक्ति वाले पुरुष कभी कभी उत्पन्न होते हैं। और जब एक शक्तिशाली पुरुष की शक्ति से बहुत लोगों के भीतर वह एक ही प्रकार का भाव उत्पन्न होता

मानसिक बल से ही सब कुछ होता है।

है, तभी हम लोग शक्तिशाली होते हैं। एक प्रत्यक्ष उदाहरण देखिये, ४ करोड़ अंग्रेज आप ३० करोड़ भारतवासियों पर किस तरह शासन कर रहे हैं? संघ ही शक्ति का मूल है, यह कहने पर शायद आप यह कहें कि यह तो जड़ शक्ति के द्वारा ही सिद्ध हो सक्ता है, इसलिये आध्यात्मिक शक्ति की क्या आवश्यकता है? परन्तु यह आध्यात्मिक शक्ति ही की तो आवश्यकता है। ये ४ करोड़ अंग्रेज अपनी सारी इच्छा-शक्ति को एकत्र किये हुए हैं उसी के द्वारा ही उनमें असीम शक्ति आती है और आप ३० करोड़ होते हुए भी अलग अलग हैं। इसलिये भारत के भविष्य को उज्ज्वल करने का मूल रहस्य संघ, शक्ति संग्रह विभिन्न इच्छा-शक्तियों का एकत्र करना है। मेरे मानसिक नेत्रों के सन्मुख ऋग्वेद संहिता का अपूर्व वेद मंत्र है।

सब का एक अंत करण होने से ही जातीय उन्नति हो सकती है

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे इत्यादि। १०। १६१। २

आप सब लोग एक अन्त करण के हो जाइये, क्योंकि प्राचीन काल में देवता लोग एक मन होने से ही अपना भाग प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। देवता एक चित्त होने से ही मनुष्यों के पूज्य पात्र हुए थे। समाज का गठन ही इसका रहस्य है। और आप आर्य, द्रविड़, ब्राह्मण, अब्राह्मण आदि तुच्छ विषयों को लेकर विवाद में फँसे रहेंगे। उतना ही आप भावी

भारत के उपयुक्त शक्ति-सग्रह से बहुत दूर रहेंगे। क्योंकि भारत का भविष्य इसी एक बात पर निर्भर करता है। यही इच्छा-शक्तियों का सम्मिलन है, एक केन्द्रीकरण है, यही रहस्य है। प्रत्येक चीनी का मन एक दूसरे से भिन्न है, और मुट्ठी भर जापानी एक चित्त हैं, इसका क्या परिणाम हुआ है, यह हम और आप देख ही रहे हैं। ससार के इतिहास मे हमेशा से यही होता आया है। आप देखेंगे कि छोटी छोटी जातिया चिरकाल से बड़ी बड़ी जातियों पर प्रभुत्व प्राप्त करती रही हैं, और यही स्वाभाविक भी है, क्योंकि छोटी जाति के विभिन्न भावों का एकीकरण करना अत्यन्त आसान है और इसी से उसकी सहज ही उन्नति होती है। और जिस जाति में लोगों की संख्या जितनी ही ज्यादा होती है, उनका एक में मिल कर काम करना उतना ही कठिन है। वे मानो असंगठित अनियन्त्रित लोगों का समूह होती हैं, वे कभी मिल नहीं सकतीं। जो हो, हम लोगों को सारा झगड़ा बखेड़ा छोड़ना पड़ेगा।

हम लोग स्त्रियों की तरह ईर्ष्यालु हो गये हैं

हम लोगों के भीतर एक और दोष है। भद्र महिलाओ, आप लोग मुझे क्षमा करें, हम लोग सैकड़ो शताब्दियो से गुलामी करते करते स्त्री जैसे हो गये हैं। आप लोग इस देश या दूसरे किसी देश को जाइये, आप देखेंगे कि यदि एक स्थान में तीन स्त्रियाँ ५ मिनट के लिये भी इकट्ठी होंगी, तो झगड़ा कर बैठेंगी। पाश्चात्य देशों में बड़ी

बड़ी सभायें करके वे स्त्रियों की समता और अधिकारों की घोषणा से आकाश को क्यों गुँजा देती हैं, इसके दो दिन बीतते न बीतते आपस मे झगड़ा कर बैठती हैं, तब कोई पुरुष आकर प्रभुत्व जमा लेता है। सभी जातियों मे आप ऐसा ही देखेंगे। स्त्रियों को शासन मे रखने के लिये अब भी पुरुषों की आवश्यकता है। हम लोग भी इसी तरह स्त्रियों के समान हो गये हैं अगर कोई स्त्री आकर उनपर नेतृत्व करने लगती है, तो सब मिलकर उसकी बड़ी से बड़ी समालोचना करने लगती हैं। उसे बोलने भी नहीं देती, जबर्दस्ती बैठा देती हैं। लेकिन यदि कोई पुरुष आकर उनके प्रति कुछ कठोर व्यवहार करे, बीच बीच में बुरा भला भी कहता जाय तो उन्हें अच्छा लगेगा, क्योंकि वे लोग इस प्रकार के व्यवहारों की अभ्यस्त हो गई हैं। सारा संसार ही जादूगरों और वशीकरन मंत्र जानने वालों से भरा हुआ है—शक्तिशाली पुरुष सदा इस प्रकार दूसरों को वश में करते हैं। हम लोगों के सम्बन्ध में भी यही हुआ है। अगर आप के देश का कोई मनुष्य बढ़ना चाहता है तो आप सब लोग मिलकर उसे दबाते हैं, लेकिन एक विदेशी आकर अगर लाठी भी मारे तो उसे अनायास ही सहने के लिये प्रस्तुत होते हैं। आप लोग इसी के अभ्यस्त हो गये हैं। इसी दासता का तिलक सिर पर लगा कर आप लोग बड़े बड़े नेता भी बनना चाहते हैं ? अस्तु, आप लोग इस दोष को छोड़ दीजिये।

पिछले पचास वर्षों से यह मातृ भूमि मानों आप की आरा

ध्यदेवी हुई है, और दूसरे देवताओं को कई वर्ष तक भुला देने से भी कोई हानि नहीं। और दूसरे देवता लोग सो रहे हैं, यही एक देवता जागृत हैं, सर्वत्र उनके हाथ, उनके कान फैले हैं, वह सर्वत्र व्याप्त है। आप क्यों व्यर्थ के देवताओं की खोज में परेशान हो रहे हैं, अपने सामने, अपने चारों तरफ जिस देवता को देख रहे हैं, उसी विराट देवता की क्यों नहीं पूजा करते ? जब आप इस

जननी जन्मभूमि रूप विराट देवता की उपासना करो।

देवता की उपासना करने मे समर्थ होंगे तो और दूसरे देवताओं की पूजा करने की आप में सामर्थ्य आ जायगी। आप पैदल रास्ता ते करना नहीं चाहते, हनुमान जी की तरह एक दम समुद्र लाँघ जाना चाहते हैं। ऐसा कभी नहीं हो सकता। सभी योगी होना चाहते हैं, सभी ध्यान करने के लिये आगे बढ रहे हैं। इससे कुछ न होगा। दिन भर दुनियादारी में फँसे रह कर शाम को थोड़ी देर तक नाक दाबने से क्या होगा ? यह उतना सरल काम नहीं है। तीन बार नाक दाबने से आप ऋषि नहीं बन जाँयगें। क्या यह तमाशा लड़कों का खेलवाड़ नहीं है ? सब से आवश्यक चित्त की शुद्धि है। किस तरह से यह चित्त की शुद्धि होगी ? पहले पूजा—विराट की पूजा आपके सामने है। जो आपके चारों तरफ है, उसकी पूजा करनी होगी। सेवा नहीं। सेवा कहने से मेरे भाव को अच्छी तरह आप नहीं समझ सकते। पूजा शब्द ही से इस भाव को प्रकट किया जा सकता

है। ये मनुष्य ये पशु—ये ही आपके ईश्वर हैं, और आपके देशवासी ही आपके प्रथम उपास्यदेव हैं। आप लोगों को आपस की द्वेषहिंसा छोड़कर और आपस में विवाद न करते हुए इन स्वदेशी देवताओं की पूजा करनी होगी। आप लोग अपने घोर कुकर्मों के फल स्वरूप कष्ट पा रहे हैं, तो भी आप की आँखें नहीं खुलती हैं।

यह विषय बड़ा भारी है, कहाँ तक चल कर ठहरूँगा, कह नहीं सकता। अस्तु। मद्रास में मैं जिस तरह से काम करना चाहता हूँ, उसे दो चार वाक्यों मे बतला करके मैं अपनी वक्तृता को समाप्त करूँगा। हम लोगों को सारी जाति भर को आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा का भार ग्रहण करना होगा। आप लोगों को इस विषय की आलोचना, कल्पना तथा चिन्ता करनी होगी, तथा अंत में उसे कार्य रूप में परिणत भी करना होगा। जितने दिन तक आप ऐसा न करेंगे, तब तक आप की जाति का उद्धार न होगा, आप लोग इस समय जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, उसमें निस्सन्देह बहुतेरे गुण हैं लेकिन उसमें बहुत सी बुराइयाँ भी हैं। ये बुराइयाँ इतनी ज्यादा हैं कि गुण उनमें [छिप सा जाता है। पहले इस शिक्षा से मनुष्य नहीं बनता, यह शिक्षा बिल्कुल अधूरी है। इस तरह की शिक्षा अथवा दूसरी किसी तरह की शिक्षा से सब कुछ नष्ट हो जाय तो यह मृत्यु से भी भयानक है। स्कूल में जाते ही लड़का यह सीखता है कि तुम्हारा बाप मूर्ख है, इसके बाद सीखता है कि तुम्हारा दादा

शिक्षा का अर्थ नाश नहीं है बल्कि निर्माण है

पागल था, फिर कुछ दिन के बाद सीखता है कि प्राचीन आर्य गण धूर्त थे, आगे चल कर वह सीखता है कि सभी शास्त्र मिथ्या हैं। सोलह वर्ष की अवस्था तक पहुँचने के पहले ही वह प्राणहीन हो जाता है, उसकी रीढ़ ही टूट जाती है। इसका फल यह हुआ है कि पचास वर्षों की शिक्षा से भी भारत के तीन प्रेसीडेन्सियों के भीतर एक मनुष्य भी पैदा नहीं हुआ। जो थोड़े से लोग मौलिक भावों से पूर्ण हुए हैं, वह इस देश की शिक्षा का फल नहीं है, किन्तु दूसरे देशों में पढ़ने का परिणाम है। अथवा उन्होंने अपने को कुसंस्कारों से मुक्त करने के लिये प्राचीन शिक्षा प्रणाली का अवलम्बन किया है। दिमाग में दुनिया भर की बातें घुसेड़ ली और वह हजम नहीं हुई और दिमाग चक्कर खाने लगा तो ऐसी शिक्षा को शिक्षा नहीं कहा जा सकता। हम लोगों को विभिन्न भावों को इस तरह से अपना लेना होगा कि जिससे हम लोगों का जीवन गठित हो, जिससे मनुष्य तैयार हों, चरित्र का निर्माण हो। अगर आप पाँच भावों को हजम करके जीवन और चरित्र को इस तरह से गठित कर सकें तो आपने उस व्यक्ति से अधिक शिक्षा प्राप्त कर ली जो लाइब्रेरी की सारी पुस्तकों को चाट गया है। जैसा कहा है—

केवल पुस्तकों को रट लेने से शिक्षा नहीं होती

यथा खरश्चन्दन भारवाही,
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।

चन्दन के भार को ढोनेवाला जिस प्रकार उसका भार ही समझ सकता है, उसके गुणों को नहीं जान सकता है आदि।

यदि शिक्षा कहने से कुछ विषयों की जानकारी प्राप्त करना ही समझा जाय तब तो लाइब्रेरी ही सर्वश्रेष्ठ साधु हैं और कोष ही ऋषि हैं। इसलिये हम लोगों का यह आदर्श होना चाहिये कि अपनी आध्यात्मिक और लौकिक सब तरह की शिक्षा को अपने हाथों मे ले लेवें और जहाँ तक सम्भव हो जातीय भाव में इस शिक्षा को देवे। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक कठिन काम है, बड़ी भारी समस्या है। मैं नहीं जानता कि कभी यह कार्य रूप में परिणत होगा, लेकिन हम लोगों को कार्य आरम्भ कर देना चाहिये।

जातीय शिक्षा देनी होगी

किस तरह से हम लोगों को कार्य करना होगा? उदाहरण के लिये इसी मद्रास को ही लीजिये। हम लोगों को एक मन्दिर बनाना होगा। क्यों कि हिन्दू लोग सभी कामों में धर्म को ही प्रधानता देते हैं, आप कह सकते हैं कि भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के इस मन्दिर में किस देवता की पूजा हो, इस विषय को लेकर झगड़ा कर बैठेंगे। इस तरह की किसी बात की आशंका नहीं है। मैं जिस मन्दिर के बनाने की बात कहता हूँ वह असाम्प्रदायिक होगा। इसमें सभी सम्प्रदायों के श्रेष्ठ उपास्य देव ओंकार की ही पूजा होगी।

साम्प्रदायिकता-रहित मन्दिरों की प्रतिष्ठा करनी होगी।

यदि किसी सम्प्रदाय को ओंकार की उपासना में आपत्ति हो तो उसे हिन्दू कहलाने का अधिकार नहीं है। चाहे जिस किसी भी सम्प्रदाय का हो, सभी हिन्दू हैं। अपने अपने सम्प्रदाय के भाव के अनुसार ही सभी इस ओंकार की व्याख्या कर सकते हैं लेकिन सर्वसाधारण के लिये उपयोगी एक मन्दिर की आवश्यकता है। दूसरी जगहों में आपके भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अपने अपने मन्दिर होवे लेकिन यहाँ पर आप लोग दूसरे सम्प्रदाय वालों से झगड़ा न करे। यहाँ हमारे भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की साधारण बातें सिखलाई जाँय और प्रत्येक सम्प्रदाय को इस स्थान पर आकर अपने मत की शिक्षा देने का पूरा अधिकार रहेगा। हाँ, एक बात की मनाही रहेगी। अगर किसी के साथ आपका मत भेद हो तो उससे झगड़ा न करना होगा। तुम्हें जो कुछ कहना हो कह जाओ, सब लोग उसे सुनना चाहेंगे। लेकिन और दूसरे लोगों के सम्बन्ध में तुम्हारे क्या मत हैं, इसे सुनने के लिये दुनिया को फ़ुर्सत नहीं है। वह तुम्हारे मन के भीतर ही रहे।

इस मन्दिर के साथ साथ शिक्षकों और प्रचारकों का गठन करने के लिये एक विद्यालय रहे। इससे जो आचार्य बन कर निकलें, वे सर्वसाधारण को धर्म और अपरा विद्या की शिक्षा देंगे। मैं इस समय जिस तरह दरवाजे दरवाजे धर्म का प्रचार करते फिरता हूँ उन्हें दूसरी तरह धर्म और विद्या दोनों का प्रचार करना होगा। यह बात आसानी से हो

उक्त मन्दिर के साथ साथ आचार्यों का विद्यालय स्थापित करना होगा।

सकती है। इन आचार्यों और धर्म प्रचारकों के प्रयत्न से ज्यों ज्यों कार्य बढ़ता जायगा, त्यों त्यों आचार्यों और प्रचारकों की सख्या भी बढती जायेगी। धीरे धीरे और और स्थानो पर इस तरह के मन्दिर स्थापित होते जायँगे, यहाँ तक कि सारे ससार भर में वे फैल जायँगे। यही मेरी कार्य-प्रणाली है।

देखने में तो यह बड़ा भारी कार्य जान पड़ता है, परन्तु करने में उतना कठिन न होगा। आप कह सकते हैं कि रुपया पैसा कहाँ से आयगा, रुपये की क्या आवश्यकता है, रुपये का क्या होगा। पिछले बारह वर्षों से मुझे यह ठिकाना नहीं रहता था कि कल क्या खाऊँगा, लेकिन रुपये पैसे आदि जिन चीजों की मुझे जब आवश्यकता प्रतीत होती थी, वह सब मुझे मिल जाती थी, क्यों कि धन मेरा दास है, मैं धन का दास नहीं हूँ। मैं कहता हूँ धन निश्चय ही मिलेगा। आप पूछ सकते हैं, लोग कहाँ से आयेंगे? हमारी क्या दशा हो गई है, यह आप लोगों से पहले ही कह चुका हूँ।

मनुष्य चाहिये

हे मद्रासी नवयुवको! मेरी आशा तुम्हीं पर लगी है। तुम लोग क्या सारी जाति की पुकार पर ध्यान न दोगे? तुम लोग अगर विश्वास करके मेरी बात को मानों तो मैं तुम लोगों से कहता

विश्वास से ही शक्ति आयेगा

हूँ कि तुम में से प्रत्येक का भविष्य बड़ा गौरव पूर्ण है। अपने ऊपर पक्का विश्वास रखो, जैसा कि मुझे लड़कपन में था। मैं उसी विश्वास के बल पर ये सारे कार्य सिद्ध कर सका हूँ। तुम में से प्रत्येक को अपने में यह विश्वास जमाना चाहिये कि हम सब लोगों में अनन्त शक्ति विराजमान है। तुम सब लोग भारत को पुनर्जन्म प्रदान कर सकते हो। हाँ, हम संसार के सब देशों को जाँयगे और आगामी दस वर्षों में हमारा भाव उस भाव का एक अंश हो जायगा जिसके सहयोग से संसार की प्रत्येक जाति गठित होती है। हम लोगों को भारत के भीतर या बाहर के प्रत्येक जाति के जीवन के बीच प्रवेश करना होगा और इस अवस्था को लाने के लिये हम लोगों को उठ कर जुट जाना पड़ेगा।

इस काम के लिये मैं कुछ युवकों को चाहता हूँ। वेद कहते हैं 'आशिष्ठो बलिष्ठो द्रढिष्ठो मेधावी' तैति॰ उप॰ २।८। युवक गण ही ईश्वरत्व प्राप्त करेंगे। यही समय तुम्हें अपने भावी जीवन की गति को स्थिर करने का है। जब तक जवानी का तेज रहे तब तक तुम्हें दम न लेना चाहिये। कार्य में लगो। यही इसके लिये समय है। क्यों कि नया खिला हुआ ताजा फूल ही परमात्मा के चरणों में अर्पण करने योग्य होता है। वह इसे ग्रहण करते हैं। अब उठो, वाद विवाद, तर्क वितर्क करने से भी बड़ा काम पड़ा हुआ है। आयु थोड़ी है, इसलिये अपनी जाति की भलाई, सारी मनुष्य जाति के कल्याण के लिये आत्म बलिदान करना ही

जीवन के सर्वश्रेष्ट धर्म हैं। इस जीवन मे धरा ही क्या है ? तुम लोग हिन्दू हो और तुम लोगों की मज्जा मज्जा में यह विश्वास बैठा है कि देह के नाश हो जाने से ही जीवन का नाश नहीं होता। समय समय पर मद्रासी नवयुवक मुझसे नास्तिकता की बातें कहते हैं। मुझे विश्वास नहीं होता कि हिन्दू कभी नास्तिक हो सकते हैं। पाश्चात्य ग्रन्थों को पढ़कर वह भले ही यह समझलें कि हम जड़वादी हैं। लेकिन यह दो दिन के लिये ही है, यह भाव तुम्हारी मज्जा मे नहीं है, इस पर तुम कभी विश्वास नहीं कर सकते, ऐसा करना तुम्हारे लिये बिल्कुल असम्भव है। इस तरह की कभी चेष्टा न करो। मैंने लड़कपन मे इस तरह की चेष्टा की थी, लेकिन मैं इसमें सफल नहीं हुआ। यह तो होने ही को नहीं है। जीवन क्षणस्थायी है। लेकिन आत्मा अविनाशी और अनन्त है। इसलिये जब मृत्यु ही निश्चित है तो आओ। एक महान आदर्श लेकर उसमें सारा जीवन लगा दो। यही हम लोगों का आदर्श हो। और वही भगवान जिन्होंने शास्त्रों में स्वमुख से कहा है कि 'मैं अपने जनों के परित्राण के लिये बराबार पृथ्वी पर अवतार लेता हूँ' वही कृष्ण भगवान हम लोगों को आशीर्वाद देवें और हम लोगों के उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होवे।

भारतीय महापुरुष

सनातन सत्य और युग धर्म

भारतीय महापुरुषों की चर्चा चलाते समय मेरे मन में उस प्राचीन काल की बात याद पड़ती है जिसका इतिहास कुछ पता नहीं बताता। हाँ, किम्वदन्तियाँ ही उस दूर अतीत काल के घनान्धकार से रहस्य उद्घाटन की व्यर्थ चेष्टा करती हैं। भारत में असंख्य महापुरुष पैदा हुये हैं। वास्तव में हिन्दू जाति ने हजारों वर्षों से असंख्य महापुरुषों को उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया है। इसलिये मैं उनमें से कुछ युग-प्रवर्तक आचार्यों की कथा और जो कुछ मैंने उनके चरित्र पर विचार करके समझा है, आप लोगों से बतलाऊँगा। पहले हम लोगों को अपने शास्त्रों के सम्बन्ध में कुछ जानना आवश्यक है। हम लोगों के शास्त्रों में दो तरह के सत्य का उपदेश दिया गया है, पहला सनातन सत्य, दूसरा सत्य पहले की तरह प्रामाणिक न होते हुये भी विशेष देशकाल पात्र से प्रयुज्य है। जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप और उनके परस्पर के सम्बन्ध का विषय वेदों में लिखा हुआ है। दूसरे प्रकार का सत्य स्मृतियों, जैसे मनु, याज्ञवल्क्य आदि संहिताओं तथा पुराणों और तन्त्रों में लिखा हुआ है। इनकी प्रामाणिकता श्रुतियों के

अधीन है, इसका कारण यह है कि यदि स्मृतियाँ वेदों की विरोधी भी हैं तो श्रुति को ही उस स्थान में मानना होगा। यही शास्त्रों का विधान है। तात्पर्य यह है कि श्रुति में जीवात्मा की नियति और उसका चरम लक्ष्य विषयक मुख्य तत्वों का पूरा वर्णन है, सिर्फ गौण विषय जो उन्हीं का विस्तार मात्र हैं, उसे ही विशेष रूप से वर्णन करना स्मृतियों और पुराणों का कार्य है। साधारण रूप से उपदेश देने के लिये तो श्रुति ही पर्याप्त हैं। धार्मिक जीवन बिताने के सम्बन्ध में श्रुतियों में निर्दिष्ट उपदेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। न और कुछ जानना है। इस विषय में जो कुछ प्रयोजन है, सभी श्रुतियों में है, जीवात्मा के सिद्धि-लाभ के लिए जो जो उपदेश आवश्यक हैं, वे सभी श्रुतियों में बतलाये गये हैं। केवल विशेष विशेष अवस्था के विशेष विशेष विधान श्रुतियों में नहीं हैं। स्मृतियों ने विभिन्न समय के लिये विशेष विशेष व्यवस्थायें दी हैं। श्रुतियों की एक और विशेषता है। जिन महापुरुषों ने श्रुतियों में भिन्न भिन्न सत्यों का उल्लेख किया है (जिनमें पुरुषों की ही संख्या अधिक है, तो भी कई एक स्त्रियों का भी उल्लेख है) उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में, जैसे वे कब और कहा पैदा हुए आदि के सम्बन्ध में हम बहुत कम जानते हैं। किन्तु उनकी सर्वोत्कृष्ट चिन्ता उनका श्रेष्ठ आविष्कार (ही कहना ठीक होगा) हम लोगों के देश के धर्म-साहित्य रूप वेद में लिपि-बद्ध और सुरक्षित है। स्मृतियों में महापुरुषों की जीवनी और कार्य-

कलाप ही विशेष रूप से दिखलाई पड़ते हैं। स्मृतियों में ही हम लोग पहले अद्भुत, महा शक्तिशाली, मनोहर चरित्र, इशारे में ही सारे संसार का परिचालन करने वाले महापुरुषों का परिचय पाते हैं, उनके चरित्र इतने उन्नत हैं कि उसके सामने उनके उपदेश फीके जँचते हैं।

हम लोगों के धर्म की यह विशेषता—हम लोगों को अच्छी तरह से समझनी होगी कि हम लोगों के धर्म में जिस ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है, वह निर्गुण और सगुण है। उसमें व्यक्तिगत सम्बन्ध रहित अनन्त सनातन तत्वों के साथ साथ असंख्य व्यक्तियों अर्थात् अवतारों का वर्णन है। किन्तु श्रुति या वेद ही हम लोगों के धर्म के मूल हैं, उनमें केवल सनातन तत्वों का उपदेश है। बड़े बड़े अवतारों, आचार्यों और महापुरुषों की सभी बातें स्मृतियों और पुराणों में लिखी हुई हैं। आप इसे भी ध्यानपूर्वक देखियेगा कि सिर्फ हमारे ही धर्म को छोड़ कर संसार के और सभी धर्म किसी विशेष धर्म प्रवर्तक या धर्म प्रवर्तकों के जीवन के साथ अच्छेद्य भाव से सम्बद्ध है, ईसाई धर्म ईसा के, इसलाम मजहब मुहम्मद के, जैन धर्म जिनों के, बौद्ध धर्म बुद्ध के और अनान्य धर्म अनान्य व्यक्तियों के जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। इसी से इन सभी धर्मों में इन महापुरुषों के जीवन को लेकर वाद-विवाद चलता रहता है, जो स्वाभाविक ही है। यदि कभी इन प्राचीन

हिन्दू धर्म और दूसरे धर्मों में भेद

महापुरुषों के अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाण कमजोर ठहरे तो उनकी धर्म रूपी अट्टालिका गिर कर चूर चूर हो जायगी। हम लोगों का धर्म व्यक्ति विशेष के जीवन पर प्रतिष्ठित न होकर सनातन तत्वों के ऊपर प्रतिष्ठित है, इस से हम लोग इस आफत से बचे हुये हैं। कोई महापुरुष, यहाँ तक कि अवतार भी यह नहीं कहते कि हम जो कहते हैं, उसे ही मानो। श्रीकृष्ण की बातों को भी हम तभी मानते हैं जब वे वेदों के अनुकूल हैं। श्रीकृष्ण की महत्ता इसी में है कि वेदों के जितने भर प्रचारक हुये हैं, उनमें वे ही श्रेष्ठ हैं। मैं यह मानता हूँ कि मनुष्य की पूर्णता के लिये, उसकी मुक्ति के लिये जो कुछ आवश्यक है, वेदों में कहा है। और कुछ नया आविष्कृत नहीं हो सकता। आप कभी सभी ज्ञानों के चरम लक्ष्यरूप पूर्ण एकत्व से अधिक अग्रसर नहीं हो सकते। वेद ने बहुत पहले ही इस पूर्ण एकत्व का आविष्कार किया, इससे आगे बढ़ना असम्भव है। जिस समय 'तत्वमसि' आविष्कृत हुआ, तभी आध्यात्मिक ज्ञान सम्पूर्ण हो गया। यह 'तत्वमसि' वेदों में ही है। अब रहा सिर्फ समय समय पर देश, काल, पात्र के अनुसार लोकशिक्षा, सो उसी के लिये समय समय पर महापुरुषों और आचार्यों का अभ्युदय हुआ है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण की वाणी में यह तत्व जिस प्रकार शुद्ध और स्पष्ट रूप से कहा हुआ है, वैसा कहीं पर भी नहीं कहा गया है।

'यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं।' ४।७

कलाप ही विशेष रूप से दिखलाई पड़ते हैं। स्मृतियों में ही हम लोग पहले अद्भुत, महा शक्तिशाली, मनोहर चरित्र, इशारे में ही सारे ससार या परिचालन करने वाले महापुरुषों का परिचय पाते हैं, उनके चरित्र इतने उन्नत हैं कि उसके सामने उनके उपदेश फीके जँचते हैं।

हिन्दू धर्म और दूसरे धर्मों में भेद

हम लोगों के धर्म की यह विशेषता—हम लोगों को अच्छी तरह से समझनी होगी कि हम लोगों के धर्म में जिस ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है, वह निर्गुण और सगुण है। उसमें व्यक्तिगत सम्बन्ध-रहित अनन्त सनातन तत्वों के साथ साथ असंख्य व्यक्तियों अर्थात् अवतारों का वर्णन है। किन्तु श्रुति वा वेद ही हम लोगों के धर्म के मूल हैं, उनमें केवल सनातन तत्वों का उपदेश है। बड़े बड़े अवतारों, आचार्यों और महापुरुषों की सभी बातें स्मृतियो और पुराणो में लिखी हुई हैं। आप इसे भी ध्यानपूर्वक देखियेगा कि सिर्फ हमारे ही धर्म को छोड़ कर संसार के और सभी धर्म किसी विशेष धर्म प्रवर्तक या धर्म प्रवर्तकों के जीवन के साथ अच्छेद्य भाव से सम्बद्ध है, ईसाई धर्म ईसा के, इसलाम मजहब मुहम्मद के, जैन धर्म जिनों के, बौद्ध धर्म बुद्ध के और अनान्य धर्म अनान्य व्यक्तियों के जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। इसी से इन सभी धर्मों में इन महापुरुषों के जीवन को लेकर वाद-विवाद चलता रहता है, जो स्वाभाविक ही है। यदि कभी इन प्राचीन

महापुरुषों के अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाण कमजोर ठहरे तो उनकी धर्म रूपी अट्टालिका गिर कर चूर चूर हो जायगी। हम लोगों का धर्म व्यक्ति विशेष के जीवन पर प्रतिष्ठित न होकर सनातन तत्वों के ऊपर प्रतिष्ठित है, इस से हम लोग इस आफत से बचे हुये हैं। कोई महापुरुष, यहाँ तक कि अवतार भी यह नहीं कहते कि हम जो कहते हैं, उसे ही मानो। श्रीकृष्ण की बातों को भी हम तभी मानते हैं जब वे वेदों के अनुकूल हैं। श्रीकृष्ण की महत्ता इसी मे है कि वेदों के जितने भर प्रचारक हुये हैं, उनमे वे ही श्रेष्ठ हैं। मैं यह मानता हूँ कि मनुष्य की पूर्णता के लिये, उसकी मुक्ति के लिये जो कुछ आवश्यक है, वेदों में कहा है। और कुछ नया आविष्कृत नहीं हो सकता। आप कभी सभी ज्ञानों के चरम लक्ष्यरूप पूर्ण एकत्व से अधिक अग्रसर नहीं हो सकते। वेद ने बहुत पहले ही इस पूर्ण एकत्व का आविष्कार किया, इससे आगे बढ़ना असम्भव है। जिस समय 'तत्वमसि' आविष्कृत हुआ, तभी आध्यात्मिक ज्ञान सम्पूर्ण हो गया। यह 'तत्वमसि' वेदों में ही है। अब रहा सिर्फ समय समय पर देश, काल, पात्र के अनुसार लोकशिक्षा, सो उसी के लिये समय समय पर महापुरुषों और आचार्यों का अभ्युदय हुआ है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण की वाणी में यह तत्व जिस प्रकार शुद्ध और स्पष्ट रूप से कहा हुआ है, वैसा कहीं पर भी नहीं कहा गया है।

'यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह।' ४। ७

"जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युदय होता है, तब तब मैं अपने को स्पष्ट करता हूँ, अधर्म के नाश के लिये ही मैं समय समय पर आविर्भूत होता हूँ।" यही भारतीय धारणा है।

इससे क्या सिद्ध होता है? इससे यही सिद्ध होता है कि एक तरफ ये सनातन तत्व समूह रहे हैं। ये स्वत प्रमाण हैं वे किसी युक्ति के ऊपर निर्भर नहीं हैं। ऋषि लोगों (चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों) या अवतारों (चाहे वे कितने महिमा पूर्ण क्यों न हों) के वाक्यों पर निर्भर करना तो दूर की बात है। मैं यहाँ यह कह सकता हूँ कि

केवल हिन्दू धर्म ही अन्यान्य देशों से भारतीय विचारों में यह क्यों सार्वभौम धर्म है? विशेषता है, इसी से मैं वेदान्त को ही एक मात्र सार्व भौम धर्म कहता हूँ

वेदान्त ही संसार का एक मात्र सार्वभौम धर्म कहला सकता है। क्योंकि यह किसी व्यक्ति विशेष के मत को मानने की शिक्षा नहीं देता यह केवल सनातन तत्वों की ही शिक्षा देता है। किसी व्यक्ति विशेष के साथ आविच्छिन्न भाव से जड़ित धर्म को ससार के सभी मनुष्य नहीं ग्रहण कर सकते। अपने इसी देश मे यह देखने में आता है कि यहाँ पर कितने महापुरुष हो चुके हैं। मैं एक छोटे से शहर में देखता हूँ कि उस शहर के लोग भिन्न भिन्न सैकड़ों लोगों को अपना आदर्श मानते हैं। इसलिये मुहम्मद, बुद्ध, वा ईसा वा इस तरह के

कोई भी एक व्यक्ति किस तरह सारे संसार के लिये एक मात्र आदर्श हो सकते हैं ? अथवा उस एक व्यक्ति के ही वाक्य में सारी नीति विद्या, आध्यात्मिक तत्व वा धार्मिक सत्य भरे हैं, यह कैसे माना जा सकता है ? वेदान्त धर्म में इस प्रकार किसी व्यक्ति विशेष के वाक्य को प्रमाण स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। मानव स्वाभाविक प्रकृति ही इसका प्रमाण है। इसका नीति-तत्व मनुष्य जाति के सनातन आध्यात्मिक एकत्व रूपी बुनियाद पर स्थित है। यह एकत्व प्रयत्न द्वारा नहीं प्राप्त होता, यह तो पहले ही से प्राप्त है।

दूसरी ओर हमारे ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह समझ रखा था कि संसार के अधिकांश पुरुष किसी न किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर निर्भर रहे बिना नहीं रह सकते। किसी न किसी आकार में लोग एक व्यक्ति विशेष को ईश्वर के रूप में मान लेते हैं। जिस बुद्धदेव ने व्यक्ति विशेष ईश्वर के विरुद्ध प्रचार किया था, उनके मरने के पचास वर्ष बीतते न बीतते उनके शिष्यों ने उन्हें ईश्वर मान लिया। किन्तु व्यक्ति विशेष ईश्वर की आवश्यकता है। मैं जानता हूँ कि ईश्वर की व्यर्थ की कल्पना से (अधिकांश स्थानों में इस प्रकार काल्पनिक ईश्वर मनुष्यों की उपासना के अयोग्य हैं।) श्रेष्ठ जीवन्त ईश्वर इस पृथ्वी में समय समय पर हम लोगों के

दूसरी ओर शास्त्रकारों ने ऐतिहासिक आदर्शों की आवश्यकता को समझा था

बीच में आविर्भूत होकर वास करते रहते हैं। किसी काल्पनिक ईश्वर से, हम लोगों के कल्पना से बनी किसी वस्तु से, (ईश्वर के सम्बन्ध मे हम लोग जितनी भी धारणायें कर सकते हैं उससे) वे अधिक पूजा के योग्य हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हम आप चाहे जितनी भी धारणायें कर सकते हैं, उनकी अपेक्षा श्रीकृष्ण बहुत ऊँचे हैं। हम लोग अपने मन में जितने ऊँचे आदर्श को सोच समझ सकते हैं, उससे बुद्धदेव बहुत ऊँचे आदर्श हैं, जीते-जागते आदर्श हैं। इसीसे सब तरह काल्पनिक देवता को भी पदच्युत करके वे इतने दिनों से लोगों द्वारा पूजित हो रहे हैं। हमारे ऋषि लोग इसे जानते थे, इसीसे उन लोगों ने सभी भारतवासियों के लिये इन महापुरुषों—इन अवतारों की पूजा का मार्ग खोला। केवल यही नहीं, जो हम लोगों के सर्व-श्रेष्ठ अवतार हैं, उन्होंने कुछ कदम आगे बढ़ कर कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्री मदार्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽश सम्भवम्। १०। ४१

—गीता

अर्थात मनुष्यों मे जो अद्भुत आध्यात्मिक शक्तियों का प्रकाश दिखलाई पड़े तो समझना कि मैं ही वर्तमान हूँ। मुझसे ही ये आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं।

इसके द्वारा हिन्दुओं के लिये सभी देशों के सभी अवतारों की उपासना करने का द्वार खोल दिया गया है। हिन्दू किसी भी देश के किसी साधु महात्मा की पूजा कर सकते हैं। हम कार्य-

रूप में देखते हैं कि हम लोग कभी कभी ईसाइयों के गिर्जाघर या मुसलमानों की मसजिद में जाकर उपासना करते हैं। इसे अच्छा ही कहा जा सकता है हम लोग ऐसी उपासना क्यों न करें? मैंने पहले ही कहा है कि हम लोगों का धर्म सार्वभौमिक है। यह इतना उदार, इतना विशाल है कि यह सब तरह के आदर्श को ही ग्रहण कर सकता है। संसार में जितने भी धर्म के आदर्श हैं उन्हें अभी ग्रहण किया जा सकता है और भविष्य में जो आदर्श आयेंगे उनके लिये हम लोग धैर्य के साथ प्रतीक्षा कर सकते हैं। उन्हें भी इस रूप में ग्रहण करना होगा कि वेदान्त धर्म ही अपने अनन्त बाहुओं को पसार कर सभी को अपनी गोद मे ले लेगा।

सभी देशों के सभी धर्मों के अवतार हिन्दुओं के उपास्य देव हैं।

ईश्वर के अवतार के सम्बन्ध में मोटे तौर पर हम लोगों की धारणा यही है। इनकी अपेक्षा कुछ नीची श्रेणी के और एक प्रकार के महापुरुष हैं। वेदों में बार बार 'ऋषि' शब्द का उल्लेख पाया जाता है और आजकल यह एक चलता शब्द हो गया है। ऋषि वाक्य विशेष प्रामाणिक माने जाते हैं। हम लोगों को इसका तात्पर्य समझना होगा। ऋषि का अर्थ मन्त्र-द्रष्टा है अर्थात जिन्होंने किसी तत्व का साक्षात्कार किया है। अत्यन्त प्राचीन काल में ही

ऋषि अर्थात् जिन्होंने धर्म को साक्षात् रूप में प्राप्त किया है।

यह प्रश्न पूछा गया था कि धर्म का प्रमाण क्या है ? बहिरेन्द्रियों के साक्ष्य से धर्म की सत्यता प्रमाणित नहीं होती, यह अत्यन्त प्राचीन काल से ही ऋषि लोग कह गए हैं—

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । २ । ९
तैत्तिरीय उपनिषद ।

अर्थात् मन के साथ वाक्य जिसे न पाकर वापस आता है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति । १ । ३ इत्यादि
—केन उपनिषद ।

वहाँ पर चक्षु नहीं जा सकते, न वाक्य पहुँच सकता है न मन । इत्यादि ।

सैकड़ों युग पहले ही ऋषि लोग यह बात कह गये हैं । बाह्य प्रकृति हम लोगों के आत्मा के अस्तित्व, ईश्वर के अस्तित्व, अनन्त जीवन मनुष्य का चरम लक्ष्य आदि किसी भी बात का उत्तर देने में असमर्थ है । इस मन का सदा यह परिणाम रहा है कि मानों उसका सदा प्रवाह चल रहा है । यह असीम है, यह मानो खंड खंड बँटा हुआ है । वह किस प्रकार उस अनन्त, अपरिवर्तनीय, अखण्ड, अविभाज्य सनातन वस्तु का सन्देश देगा ? कभी नहीं दे सकता ? और जभी मनुष्य जाति ने चैतन्य रहित जड़ से इन सब प्रश्नों का उत्तर पाने का व्यर्थ प्रयास किया है तब तब इतिहास जानता है कि उसका क्या अशुभ परिणाम हुआ है । तब यह वेदोक्त ज्ञान कहाँ से आया ?—ऋषित्व प्राप्त होने ही से यह ज्ञान प्राप्त होता है । इन्द्रियों की सहायता से

यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता। क्या इन्द्रिय ज्ञान ही मनुष्य का सर्वस्व है ? कौन ऐसा कहने का साहस करेगा ? हमारे जीवन में, हम लोगों में से प्रत्येक के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं— या तो कोई प्रिय सम्बन्धी की मृत्यु हो जाय, अथवा अत्यन्त आनन्द का कारण उपस्थित हो जाय, इन सभी अवस्थाओं में मन एक तरह से स्थिर हो जाता है। बहुत बार कई अवस्थाओं में ऐसा होता है कि मन स्थिर होकर क्षण भर के लिये उसका असली स्वरूप देख पाता है, उस समय उस अनन्त का कुछ थोड़ा सा आभास पाता है, उस समय हम लोगों के सामने एक ऐसी वस्तु प्रकाशित होती है जहा पर मन अथवा वाक्य कुछ भी जा नहीं सकता। साधारण लोगों के जीवन में समय समय पर ऐसा होता है। अभ्यास द्वारा ही इस अवस्था को प्रगाढ़, स्थायी और सम्पूर्ण करना होगा। मनुष्य ने सैकड़ों युग पहले ही आविष्कार किया था कि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा बद्ध वा सीमा बद्ध नहीं होता। केवल यही नहीं, वह ज्ञान के द्वारा भी सीमा बद्ध नहीं है। हम लोगों को यह समझना होगा कि ज्ञान उस आत्मारूप अनन्त शृङ्खला का एक छोटा सा अंश मात्र है। ऋषियों ने ज्ञान की अतीत भूमि में बड़ी निर्भीकता से आत्मा का अनुसन्धान किया है। ज्ञान पञ्चेन्द्रिय द्वारा सीमाबद्ध है। आध्यात्मिक जगत का सत्य प्राप्त करने के लिये मनुष्य को उसके अतीत प्रदेश, इन्द्रियों के बाहर जाना पड़ेगा। और अब भी ऐसे व्यक्ति हैं जो पञ्चेन्द्रियों की सीमा के बाहर जाने में असमर्थ

हैं। इन्हें ही ऋषि कहते हैं, क्योंकि इन्होंने आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार कर लिया है। इसलिये जिस प्रकार सामने के मेज को मैं जिस प्रकार देख रहा हूँ, उसी तरह वेद निहित सत्य का प्रमाण भी वैसा ही प्रत्यक्षानुभूति है। मेज को इन्द्रियों की सहायता से हम लोग प्रत्यक्ष कर सकते हैं। और आध्यात्मिक सत्यों का भी जीवात्मा की ज्ञानातीत अवस्था में साक्षात होता है। यह ऋषित्व का प्राप्त होना देश, काल, लिङ्ग या जाति विशेष के ऊपर निर्भर नहीं करता। वात्सायन ने साफ साफ कहा है यह ऋषित्व ऋषियों के वंशधर, आर्य अनार्य यहा तक कि म्लेच्छों तक की साधारण सम्पत्ति है।

वेदों के ऋषित्व कहने से यही समझा जाता है, हम लोगों को भारतीय धर्म के इस आदर्श को सदा स्मरण रखना होगा। और मैं चाहता हूँ कि संसार की अन्यान्य जातियाँ भी इस आदर्श को समझ कर स्मरण रखेंगी, क्योंकि ऐसा होने से एक धर्म के लोगों का दूसरे धर्म के लोगों से लड़ना झगड़ना बन्द हो जायगा। शास्त्रों के पढ़ने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती या मतमतान्तर के द्वारा, वचन द्वारा अथवा तर्क द्वारा भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। सब को धर्म का साक्षात करना होगा, ऋषि बनना पड़ेगा। भाइयो, जब तक आप में से
प्रत्येक मनुष्य ऋषि नहीं हो जाता, जब
धर्म जीवन प्राप्त करने तक आप आध्यात्मिक सत्यों का साक्षा
पर ऋषि होना होगा, त्कार कर नहीं लेते, तब तक आप निश्चय

बुद्धदेव और ब्राह्मण जानिये, आपका धार्मिक जीवन आरम्भ नहीं होगा। जब तक तुम्हारी यह ज्ञाना तीत अवस्था खुल नहीं पड़ती तब तक धर्म केवल कहने भर की चीज है, तब तक धर्म प्राप्ति के लिये केवल तैयारी कर रहे हो, तब तक तुम दूसरे के मुँह का जूठा खाते हो। एक समय महात्मा बुद्ध के साथ कुछ ब्राह्मणों का तर्क वितर्क हो रहा था। उस समय उन्होंने एक सुन्दर कथा कही थी। वह यहा पर ठीक घटित होती है। ब्राह्मणों ने बुद्धदेव के पास जाकर उनसे ब्रह्म के सम्बन्ध में पूछा, उप महात्मा ने उनसे कहा, "क्या आप लोगों ने ब्रह्म को देखा है?" ब्राह्मणों ने कहा, "नहीं, हमने नहीं देखा है?" बुद्ध ने फिर उनसे पूछा, "आप के पिता ने उसे देखा है?" उन्होंने कहा, "नहीं, उन्होने भी नहीं देखा है।" "आपके दादा ने देखा है" "जहाँ तक हम लोग जानते हैं, उन्होंने भी नहीं देखा है।" तब बुद्धदेव ने कहा, "भाइयो, आपके बाप दादोंने भी जिसे नहीं देखा, ऐसे पुरुष के सम्बन्ध में आप लोग किस तरह विचार द्वारा एक दूसरे को परास्त करने का प्रयत्न करते हैं?" सारा संसार यही कर रहा है। वेदान्त की भाषा में हम लोगो को भी कहना पड़ेगा —

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन। १।२।२२

कठोपनिषद

उस आत्मा को वागाडम्बर से प्राप्त नहीं किया जा सकता,

प्रबल मेधा द्वारा भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि वेद पाठ द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता।

संसार की सभी जातियों को वेद की भाषा में हम लोगों को कहना होगा कि तुम लोगों का वाद विवाद करना व्यर्थ है, तुम लोग जिस ईश्वर का प्रचार करना चाहते हो, क्या उसे कभी देखा है? अगर नहीं देखा है, तो तुम्हारा प्रचार व्यर्थ है। तुम क्या कह रहे हो, उसे तुम्हीं नहीं जानते, और अगर तुम ईश्वर को देख लोगे तो तुम विवाद न करोगे, तुम्हारे मुख की कुछ और ही शोभा हो जायगी। एक ऋषि ने अपने पुत्र को ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये गुरु के घर भेजा। जब लौट कर आया, पिता ने पूछा, "तुमने क्या सीखा?" पुत्र ने कहा कि मैंने अनेक विद्यायें सीखी हैं। पिता ने कहा, "तुमने कुछ नहीं सीखा, जाओ फिर गुरु के घर फिर जाओ।" पुत्र फिर गुरु के घर गया। फिर जब वहाँ से लौट कर आया तो पिता ने वही प्रश्न पूछा। पुत्र ने फिर उन सभी विद्याओं के सीखने की बात कही। उसे फिर एक बार गुरु के घर जाना पड़ा। फिर जब वहाँ से वह लौट कर आया तो उसके मुँह की शोभा ही कुछ और हो गई थी। तब पिता ने कहा, "बेटा, अब तुम्हारा चेहरा, स्वर, ब्रह्म को जानने वाले की तरह दमक रहा है।" जब आप लोग ईश्वर को जान जाओगे तब आपका चेहरा, आपकी सारी आकृति ही बदल जायगी। तब आप मानव जाति के लिये महाकल्याणकारक बन जाँयगे। ऋषि हो जाने पर

कोई आप की शक्ति को रोकने में समर्थ न होगा। यही ऋषित्व है और यही हमारे धर्म का आदर्श है। बाकी जो कुछ है, वह सब वचन, दर्शन, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, यहां तक कि वेद तक—इसी ऋषित्व की तैयारी के लिये हैं। ऋषित्व प्राप्ति ही मुख्य है। 'वेद व्याकरण, ज्योतिष सभी गौण हैं।' चरम ज्ञान वही है, जिसके द्वारा हम उस अपरिणामी वस्तु का साक्षात्कार कर सकें। जिन्होंने उसका साक्षात किया है, वे ही वैदिक ऋषि हैं। ऋषि से हम लोग एक श्रेणी के विशेष अवस्था के व्यक्ति का भाव ग्रहण करते हैं। यथार्थ में हिन्दू कहलाने के लिये हम लोगों में से प्रत्येक को अपने जीवन की किसी न किसी अवस्था में इस ऋषित्व को प्राप्त करना होगा और ऋषित्व प्राप्त करना ही मुक्ति है। कई मतों में विश्वास रखने हजारों मन्दिरों मे देव दर्शन करने या संसार में जितनी नदियाँ हैं, उन सब मे स्नान करने से हिन्दुओं के मत से मुक्ति न होगी। ऋषि होने, मन्त्र-द्रष्टा होने से ही मुक्ति प्राप्त होगी।

बाद के समय की आलोचना करने पर हमको ज्ञात होता है कि इस समय में सारे संसार में उथल-पुथल मचाने वाले महा-पुरुषों, अवतारों ने जन्म ग्रहण किया है। अवतारों की संख्या बहुत ज्यादा है। भागवत के मन्त्र से अवतारों की संख्या ज्यादा है। उनमें राम और कृष्ण ही भारत में सब से अधिक पूजे जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने उस प्राचीन वीर युग के आदर्श, सत्य-परायणता और सम्पूर्ण नीति तत्व के मूर्ति स्वरूप आदर्श पुत्र,

आदर्श पति, आदर्श पिता, सर्वोपरि आदर्श राजा रामचन्द्र के चरित्र को चित्रित करके हम लोगों के सामने रख दिया है। इस महाकवि ने जिस भाषा में राम चरित्र का वर्णन किया है, उससे बढ़ कर शुद्ध, मधुर और सरल भाषा नहीं हो सकती।

भगवान रामचन्द्र

और सीता का तो कहना ही क्या ! आप ससार के सारे प्राचीन साहित्य को छान डालिये, ससार के भावी साहित्य को भी समाप्त कर डालिये, लेकिन मैं आपसे स्पष्ट कहता हूँ कि आपको उनमें सीता जैसा उज्ज्वल चरित्र कहीं पर दिखलाई न पड़ेगा। सीता का चरित्र असाधारण है। यह चरित्र भी एक बार ही चित्रित हुआ है। और कभी नहीं हुआ है और न कभी होगा ही। राम तो कई हुए होंगे, लेकिन सीता दूसरी नहीं हुई है। भारतीय रमणियों को जैसा होना चाहिये, सीता उनके लिये आदर्श हैं। रमणी-चरित्र के जितने तरह के भारतीय आदर्श हैं, वे सभी सीता के चरित्र में ही आश्रित हैं और सम्पूर्ण भारत में हजारों वर्षों से यहाँ के बच्चे बुढ्ढे स्त्री पुरुष द्वारा पूजित हो रही हैं। महामहिमा शालिनी सीता जो शुद्ध से भी शुद्ध और सहिष्णुता की मूर्ति हैं, सदा इसी प्रकार पूजित होंगी। जिन्होंने जरा भी विरक्ति न प्रकट कर उस विपत्ति काल में अपना जीवन बिताया था, वही नित्य साध्वी, नित्य शुद्ध स्वभाव वाली आदर्श पत्नी सीता, इस नर

आदर्श हिन्दूनारी सीता

लोक ही क्यो, देव लोक के लिये आदर्श रूप सीता सदा हमारे जातीय देवता के रूप मे वर्तमान रहेंगी। हम सभी लोग उनके चरित्र को विशेष रूप से जानते हैं, इसलिये उसका विशेष वर्णन करना आवश्यक नहीं है। हम सब लोगों के पुराण नष्ट हो सकते हैं, यहाँ तक कि वेद तक लोप हो सकते हैं, हमारी संस्कृत भाषा तक सदा के लिये काल स्रोत मे लुप्त हो सकती है, किन्तु मेरी बात को ध्यान दे कर सुनिये, जब तक भारत में देहात की बोली बोलने वाले ५ हिन्दू रहेंगे, तब तक सीता का उपाख्यान रहेगा। सीता हम लोगों की मज्जा मज्जा में प्रवेश कर गयी हैं, प्रत्येक हिन्दू स्त्री पुरुष के खून में वह विराजमान हैं। हम सभी सीता की सन्तान हैं। हमारी स्त्रियों को आधुनिक ढंग पर बनाने के जो भी प्रयत्न हो रहे हैं, अगर वे प्रयत्न उन्हें सीता चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने के लिये होंगे, तो अवश्य असफल होंगे। और हम लोग हर रोज इसका दृष्टान्त देखते हैं। भारतीय स्त्रियों को सीता के पद चिन्हों का अनुसरण कर अपनी उन्नति करने का प्रयत्न करना होगा। यही भारतीय स्त्रियों की उन्नति का एकमात्र मार्ग है।

इसके बाद उनकी कथा की आलोचना की जाय जो कई भावों से पूजे जा रहे हैं, जो भारत के स्त्री-पुरुष, बच्चे, बूढ़े सभी के परम प्रिय इष्ट देवता हैं। मैं उन्हें लक्ष्य करके यह बात कह रहा हूँ, जिन्हें भागवतकार अवतार ही कह कर गीता की साकार मूर्ति तृप्त नहीं होते, वह कहते हैं—

भगवान श्रीकृष्ण   एते चाश कला पुंस कृष्णस्तु भगवान स्वयम्
१—३—२८

और दूसरे अवतार उस भगवान के अंश और कला स्वरूप हैं, लेकिन कृष्ण स्वयं भगवान हैं।

जब हम उन के अनेक भावों से पूर्ण चरित्र की आलोचना करते हैं तब उनके लिये जो इस प्रकार के विशेषण प्रयुक्त होते हैं, उनके लिये आश्चर्य नहीं होता। वह अपूर्व सन्यासी और अद्भुत गृही थे, उनमें अद्भुत रजोगुण का विकाश देखा जाता था, साथ ही उनका त्याग भी अद्भुत था। गीता को पढ़े बिना उनका चरित्र कभी समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि वह स्वयं अपने उपदेश के मूर्तिमान स्वरूप थे। सभी अवतार ही जो कुछ प्रचार करने के लिये अवतारित हुए थे, उसके जीते जागते उदाहरण थे। गीता के प्रचारक श्रीकृष्ण भगवद्गीता की साकार मूर्ति थे, वह अनासक्ति के दृष्टान्त स्वरूप थे। उन्होंने बहुतों को राजा बनाया, लेकिन स्वयं सिंहासन पर न बैठे। वह सम्पूर्ण भारतवर्ष के नेता थे, जिसके सामने बड़े बड़े राजा सिंहासन छोड़कर सर झुकाते थे। उन्होंने कभी राजा बनने की इच्छा न की। वह लड़कपन में जिस प्रकार सरल भाव से गोपियों के साथ क्रीड़ा करते थे, जीवन की अन्य अवस्थाओं में भी उनकी वही सरलता दिखलाई पड़ती है।

उनके जीवन की उसी चिरस्मरणीय अध्याय की कथा याद पड़ती है जो अत्यन्त दुर्बोध्य है। जब तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी

और पवित्र स्वभाववाला नहीं हो तब तक उसे समझने की चेष्टा करना उचित नहीं। उस प्रेम का अत्यन्त अद्भुत विकास है जो उस वृन्दावन की मधुर लीला मे रूपक के तौर पर वर्णन किया गया है। प्रेम-मदिरा को पीकर जो एक बारगी उन्मत्त है, उसे छोड़कर दूसरा उसे समझने में असमर्थ

श्रीकृष्ण और गोपीप्रेम

है। कौन ऐसा है जो गोपियों के प्रेम-जनित 'विरह-यंत्रणा के भाव को समझने में समर्थ है। उनका प्रेम—प्रेम का चरम आदर्श है, वह प्रेम और कुछ नहीं चाहता, जो स्वर्ग तक की आकांक्षा नहीं करता, जो इस लोक और परलोक की किसी वस्तु की कामना नहीं रखता। हे भाइयो, इसी गोपीप्रेम के द्वारा ही सगुण निर्गुण ईश्वरवाद का सामंजस्य हुआ है। हम जानते हैं मनुष्य सगुण ईश्वर से उच्चतर धारणा करने में असमर्थ है। हम यह भी जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से सम्पूर्ण जगत-व्यापी-समग्र संसार जिसका विकाश मात्र है—उसी निर्गुण ईश्वर मे विश्वास ही स्वाभाविक है। इस तरफ तो हम लोगों का मन एक साकार वस्तु चाहता है, ऐसी वस्तु चाहता है जिसको हम लोग ग्रहण कर सकें, जिसके चरण कमल पर हम लोग सर्वस्व न्यौछावर कर सकें। इसलिये सगुण ईश्वर ही मानव स्वभाव की चूड़ान्त धारणा है किन्तु युक्ति उस धारणा से संतुष्ट नहीं हो सकती। यह वही अत्यन्त प्राचीन समस्या है जिस पर ब्रह्म सूत्र में विचार किया गया है। जिस

पर वनवासकाल मे द्रौपदी युधिष्ठिर मे बातचीत हुई थी । यदि कोई सगुण, सम्पूर्ण दयामय सर्वशक्तिमान ईश्वर है तो इस नरकतुल्य संसार का अस्तित्व क्यों है ? क्यों उन्होंने इसकी सृष्टि की ? उन्हें एक बड़ा पक्षपाती ईश्वर कहना-पड़ेगा, इसकी कोई मीमासा नहीं हो सकती । केवल गोपिकाओं के प्रेम के सम्बन्ध मे शास्त्रों मे जो कुछ पढ़ा है, उसी से इसकी मीमासा हुई है । कृष्ण के प्रति किसी विशेषण का प्रयोग करना वे नहीं चाहती थीं, वह सृष्टिकर्ता है, वह सर्वशक्तिमान है, इसे भी वे जानना नहीं चाहती थीं । वे केवल यही जानती थीं कि वह प्रेम मय है, यही उनके लिये काफ़ी है । गोपिया श्रीकृष्ण को केवल वृन्दावन का कृष्ण समझती थीं । वह बहुत सेना के नेता राजाधिराज कृष्ण उनके लिये तो वही ग्वालबाल श्रीकृष्ण थे ।

'न धनं, न जनं न कवितां सुन्दरी वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवतु भक्तिरहैतुकी त्वयि ।।'

'हे जगदीश, मैं धन, जन, कविता वा सुन्दरी—कुछ की चाहना नहीं करता, हे ईश्वर मैं यही चाहता हूँ कि जन्म जन्म में आपके प्रति मेरी अहेतु की भक्ति हो ।' धर्म के इतिहास में यह अहेतु की भक्ति, यह निष्काम कर्म एक नया अध्याय है और मनुष्य के इतिहास में भारत क्षेत्र मे सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण भगवान के मुँह से सबसे पहले यही तत्व निकला है । भय का धर्म, कामना का धर्म सदा के लिये चला गया और मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक नरक का भय और स्वर्ग सुख के

भोग की इच्छा के रहते हुए भी यह अहेतु की भक्ति और निष्काम कर्म रूप श्रेष्ठ आदर्श का अभ्युदय हुआ।

इस प्रेम की महिमा और कौन कह सकता है? मैंने आप लोगों से इतना ही कहा है कि गोपिकाओं का सा प्रेम प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है। हम लोगों में ऐसे मूर्खों की कमी नहीं है जो श्रीकृष्ण के जीवन के इस अद्भुत अंश के विचित्र तात्पर्य को समझने में असमर्थ हैं। मैं फिर कहता हूँ कि हमी लोगों के साथ खून के सम्बन्ध से सम्बद्ध बहुत से अशुद्धात्मा मूर्ख लोग हैं जो इसे अत्यन्त अपवित्र कार्य समझकर भय से दस हाथ पीछे हट जाते हैं। इनसे मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि आप अपने मन को पहले शुद्ध कीजिये। आप को यह भी स्मरण रखना होगा कि जिन्होंने गोपियों के इस अद्भुत प्रेम का वर्णन किया है, वह और कोई नहीं, वही आजन्म शुद्ध व्यास-पुत्र शुक हैं। जितने दिन तक हृदय में स्वार्थपरता रहती है, तब तक भगवत् प्रेम असंभव है। यह केवल दुकानदारी है, मैं कुछ तुम्हें देता हूँ, हे प्रभो, तुम मुझे कुछ दो। भगवान कहते हैं अगर तुम ऐसा न करोगे, तो तुम्हारे मरने पर मैं तुम्हें देख लूँगा। मैं सदा तुम्हें जला जला कर मारूँगा। कामना वाले मनुष्य की ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा होती है। जब तक दिमाग में इस तरह के भाव रहते हैं, तब तक गोपियों की प्रेम-जनित विरह की उन्मत्तता को लोग किस तरह समझ सकते हैं?

सुरत वर्द्धन शोकनाशनं स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतर राग विस्मारण नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्।

१० ३१-१४ श्री मद्भागवत।

"एक बार, केवल एक बार ही यदि उस अधर का चुम्बन किया जाय, जिसे आपने एक बार चुम्बन किया है, सदा से तुम्हारे लिये उसकी प्यास बढ़ती रहती है, उसका सारा दुःख दूर हो जाता है। उस समय हम लोगों की अन्यान्य सभी विषयों की आसक्ति दूर हो जाती है, केवल तुम्हीं उस समय एक मात्र प्रिय-पात्र होते हो।

पहले इस काचन, नाम यश, इस क्षुद्र संसार के प्रा आसक्ति छोड़ कर देखो। तभी तुम गोपियों का प्रेम क्या वस् है, समझ सकोगे। वह इतना विशुद्ध पदार्थ है कि सर्वस्व त्या किए बिना उसे समझने की कोशिश करना ठीक नहीं। जब तव आत्मा बिल्कुल पवित्र नहीं होता, तब तक उसे समझने की चेष्टा करना व्यर्थ है। प्रति क्षण जिसके हृदय में कामिनी काचन और यश लिप्सा के बुदबुदे उठते रहते हैं, वही उन गोपिकाओं के प्रेम को समझने और उसकी समालोचना करने चलता है। कृष्ण के अवतार का मुख्य उद्देश्य यही है, वह गोपी-प्रेम की शिक्षा देता है। दर्शन शास्त्र में श्रेष्ठ गीता तक भी उस प्रेमोन्मत्तता के पास खड़ी नहीं हो सकती। क्योंकि गीता में साधक को धीरे धीरे उस चरम लक्ष्य मुक्ति साधन का उपदेश दिया गया है,

गीतोक्त उपदेश के ऊपर भी गोपी-प्रेम का स्थान है, केवल त्यागियों का ही उस पर अधिकार है

किन्तु इस गोपी प्रेम में ईश्वर रसास्वादन की उन्मत्तता है, घोर प्रेमोन्मत्तता विद्यमान है। वहाँ गुरु शिष्य शास्त्रोपदेश, ईश्वर स्वर्ग सब कुछ एकाकार है, भय का, धर्म का लेश मात्र भी नहीं रहता, सब कुछ लोप हो जाता है, रह जाता है केवल प्रेमोन्मत्तता। उस समय संसार की और कोई वस्तु मन में नहीं रह जाती उस समय भक्त संसार में उस कृष्ण, केवल उसी कृष्ण को छोड़कर और कोई नहीं देखता है, उस समय वह सब प्राणियों में कृष्ण ही की मूर्ति देखता है, उसका मुँह तक कृष्ण की तरह दिखलाई पड़ता है। उसकी आत्मा श्रीकृष्ण के रंग में रँग जाती है, भगवान श्रीकृष्ण की ऐसी महिमा है।

कृष्णोपदेश की नवीनता

कृष्ण जीवन की और छोटी छोटी घटनाओं को लेकर आप अपने समय को व्यर्थ न खोयें, उनके जीवन का जो मुख्य अंश है, उसका ही अवलम्बन करें। सम्भव है बहुत से इतिहासवेत्ता श्री कृष्ण के जीवन चरित्र को गलत सिद्ध करें, बहुत सी बातें प्रक्षिप्त बतलायें, यह सब ठीक हो सकता है, लेकिन यह सब कुछ होने पर भी उस समय समाज में जो एक नये भाव का अभ्युदय हुआ था, उसका कारण अवश्य था। दूसरे किसी भी महापुरुष के जीवन की आलोचना करने पर देखा जाता है, कि वह पहले के

श्रीर कृष्ण का ऐतिहासिक तत्व — कितने भावों की प्रतिध्वनि मात्र है। हम देखते हैं कि वे अपने देश, इतना ही नहीं, उस समय जो शिक्षायें प्रचलित थीं केवल उन्हीं का, प्रचार कर गये हैं। यहाँ तक कि वह महापुरुष हुए थे या नहीं, इसी सम्बन्ध में बड़ा सन्देह होने लगता है। किन्तु कृष्ण का उपदेश यह निष्काम कर्म श्रीर निष्काम प्रेम तत्व संसार के लिये कोई नवीन बात नहीं, इस पर विचार करके देखिये। आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी एक व्यक्ति ने निश्चय ही इन तत्वों का आविष्कार किया होगा। इन तत्वों को किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखा हुआ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कृष्ण के आविर्भाव के समय सर्व साधारण में यह तत्व प्रचलित थे, ऐसा देखने में नहीं आता। भगवान कृष्ण ही सबसे पहले इसके प्रचारक हैं, उनके शिष्य वेद-व्यास ने उन तत्वों को सर्व साधारण में फैलाया। मनुष्य जाति की भाषा में इससे श्रेष्ठ आदर्श कभी भी चित्रित नहीं हुआ है। हम लोग उनके ग्रन्थ में गोपीवल्लभ, वृन्दावन विहारी गोपाल से श्रीर कोई ऊँचा आदर्श नहीं पाते। जब आपके मस्तिष्क में यह उन्मत्तता समायगी, तब आप भाग्यशालिनी गोपियों के भावों को समझेंगे, तभी आप प्रेम क्या वस्तु है, समझ जाँयगे। जब कि सारा संसार आपकी दृष्टि से गायब हो जायगा, जब आपके हृदय में श्रीर कोई कामना नहीं रह जायगी, जब आपका हृदय बिल्कुल शुद्ध हो जायगा, श्रीर कोई लक्ष्य नहीं रह जायगा, यहाँ

तक कि आप में सत्य के अनुसधान की इच्छा भी न रह जायगी, तभी आप के हृदय मे उस प्रेमोन्मत्तता का आविर्भाव होगा, तभी आप गोपियों के अहेतु की भक्ति को समझेंगे। यही लक्ष्य है। जब वह प्रेम पा लिया, तब सब कुछ पा लिया।

गीता प्रचारक श्रीकृष्ण

अब मैं कुछ नीचे उतर कर गीता प्रचारक श्रीकृष्ण की आलोचना करूँगा। भारत मे इस समय बहुतों में एक चेष्टा देखने मे आती है, वह मानों घोडा मे गाड़ी जोतने की तरह है, हम लोगों मे से बहुतों की धारणा है कि कृष्ण ने गोपियों के साथ प्रेमलीला की थी, यह कैसी बात है! साहब लोग भी इसे बहुत पसन्द नहीं करते। अमुक पंडित इस गोपी प्रेम को अच्छा नहीं समझते। तो क्या होगा? गोपियों को यमुना के जल मे डुबा दो! साहब लोगों की अनुमति न होने से श्रीकृष्ण टिक ही कैसे सकते हैं? कभी नहीं टिक सकते। महाभारत मे दो एक स्थलों को वे स्थल विशेष उल्लेख योग्य नहीं हैं—छोड़कर गोपियों का जिक्र ही नहीं है। केवल द्रौपदी-चीर-हरण और शिशुपाल की वक्तृता मे वृन्दावन का जिक्र आता है।

ये सब प्रक्षिप्त हैं। अंग्रेज लोग जिसे नहीं चाहते उसे छोड़ देना होगा। गोपियों की कथा यहाँ तक कि कृष्ण की कथा तक प्रक्षिप्त है। जो लोग ऐसे पक्के बनिया हैं, जिनके धर्म का आदर्श तक व्यवसाय हो रहा है, उन सब का मनोभाव यही है कि वे

इस लोक में कुछ करके स्वर्ग जाँयगे। बनिया लोग सूद दर सूद चाहते हैं, वे यहां पर कुछ पुण्य संचित करके जाना चाहते हैं जिसके फल से स्वर्ग मे जाकर सुख भोग करेंगे। इनकी धर्म-प्रणाली में अवश्य ही गोपियों के लिये स्थान नहीं है।

मैं यहाँ पर उन आदर्श प्रेमी श्री कृष्ण की कथा छोड़कर कुछ नीचे उतर कर गीता प्रचारक श्री कृष्ण की कथा की आलोचना करूँगा। यहाँ पर भी हम देखते हैं कि गीता की तरह वेद का भाष्य और कभी नहीं हुआ और न होगा। वेदों अथवा उपनिषदों का मतलब समझना बहुत कठिन है, क्योंकि अनेक भाष्यकारों ने अपने मत के अनुसार ही उसकी व्याख्या करने की कोशिश की है। अन्त में जो स्वयं श्रुति के वक्ता हैं, वे ही भगवान ने स्वयं आकर गीता के प्रचारक रूप में श्रुति का अर्थ समझाया और आज भारत मे उस व्याख्या प्रणाली की जैसी आवश्यकता है, सारे ससार में वैसी आवश्यक कोई चीज नहीं हैं। आश्चर्य की बात है कि परवर्ती शास्त्रों की व्याख्या करने वालों ने गीता की व्याख्या करते समय भी भगवान के कहे हुए वाक्यों का तात्पर्य नहीं समझा है। गीता में क्या दिखलाई पड़ता है और आधुनिक भाष्यकारों के भीतर ही क्या दिखलाई पड़ता है? मान लीजिये कोई अद्वैतवादी भाष्यकार हैं, उन्होंने उपनिषद् की व्याख्या करनी आरम्भ की। उसके भीतर अनेक द्वैत भावात्मक

गीता ही श्रुति का एक मात्र प्रामाणिक भाष्य है, इसी में सब मतों का समन्वय है।

वाक्य हैं, उन्हें भी तोड़ मरोड़ कर अपने मन के मुताबिक अर्थ लगा लिया। उसी तरह से द्वैतवादी भाष्यकार ने अद्वैतवादात्मक वाक्यों को तोड़ मरोड़ कर अपने मन के अनुसार अर्थ लगा लिया। किन्तु गीता में श्रुति के तात्पर्य को इस तरह विकृत करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। भगवान कहते हैं ये सभी सत्य हैं, जीवात्मा धीरे धीरे स्थूल से सूक्ष्मता की ओर बढ़ती जाती है, इस प्रकार क्रमश वह चरमलक्ष्य अनन्त पूर्ण को पहुँचती है। गीता में इसी प्रकार वेद का तात्पर्य वर्णन किया गया है। यही क्यों, कर्म काण्ड तक गीता में स्वीकृत हुआ है और यह दिखलाया गया है कि यद्यपि कर्म काड प्रत्यक्ष रूप में मुक्ति का साधन नहीं है, गौण भाव से मुक्ति का साधन है तो भी वह सत्य है, मूर्ति-पूजा भी सत्य है। सब तरह के अनुष्ठान आदि भी सत्य हैं, केवल एक विषय की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये, वह है चित्त की शुद्धि।

विभिन्न प्रकार के साधन प्रणाली की आवश्यकता

यदि हृदय शुद्ध और कपट-रहित हो, तभी उपासना ठीक होती है और हम लोगों को चरम लक्ष्य तक पहुँचाती है। ये सभी भिन्न भिन्न प्रकार की उपासनायें सत्य हैं, क्योंकि अगर वे सत्य न होतीं तो किस प्रकार उनकी सृष्टि होती? आज कल के बहुत से लोगों का मत है कि विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय कुछ ढोंगी और दुष्ट लोगों के चलाये हुए हैं। उन्होंने कुछ धन के लोभ से इन धर्मों और सम्प्रदायों की सृष्टि की। यह

कहना बिल्कुल भूल है। उनकी व्याख्या देखने में चाहे कितनी युक्तिपूर्ण क्यों न हो, लेकिन वह सत्य नहीं है, वे इस प्रकार नहीं बनाये गये हैं। जीवात्मा के स्वाभाविक प्रयोजन से उनकी उत्पत्ति हुई है। विभिन्न श्रेणी के मनुष्यों की धर्म पिपासा को चरितार्थ करने के लिये उनका अभ्युदय हुआ है इसलिये उनके विरुद्ध खड़े होने से कोई फल नहीं निकलेगा। जिस दिन उनकी आवश्यकता न रह जायगी, उस दिन उस आवश्यकता के अभाव के साथ ही वे भी लुप्त हो जायँगी। और जब तक यह आवश्यक रहेगी, तब तक आप उनकी कड़ी से कड़ी समालोचना क्यों न करें, उनके विरुद्ध चाहे कितना ही प्रचार क्यों न करें, वे अवश्य ही विद्यमान रहेंगी। तलवार और बन्दूक की सहायता से संसार को खून के सोते में बहा दिया जा सकता है किन्तु जब तक प्रतिमा की आवश्यकता रहेगी, तब तक मूर्ति पूजा अवश्य ही होती रहेगी। यह अनुष्ठान की विभिन्न पद्धति और धर्म के विभिन्न सोपान अवश्य ही रहेंगे। हम लोग भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश से समझ सकते हैं कि उनकी क्या आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण के तिरोभाव के कुछ समय बाद ही भारतीय इतिहास का एक शोचनीय अध्याय आरंभ हुआ। हम लोग गीता ही में सम्प्रदायों के विरोध की प्रतिध्वनि सुन पाते हैं, और उस सामञ्जस्य के अद्भुत उपदेशक भगवान श्रीकृष्ण बीच में पड़कर विरोध को दूर कर देते हैं। वह कहते हैं,—

'मार्य सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगण इव' । ७ । ७
—गीता

'जिस प्रकार सूत में मणि पिरोये जाते हैं, वैसे ही मुझमे ही सब कुछ ओतप्रोत भाव से विद्यमान हैं।'

हम लोगों को उसी समय से साम्प्रदायिक विरोध की दबी हुई आवाज़ सुनाई पड़ती है। सम्भवत भगवान के उपदेश से वह विरोध कुछ काल के लिये कम हो गया था और बहुत कुछ शान्ति और एकता स्थापित हो गई थी, लेकिन फिर से वह विरोध उठ खड़ा हुआ। केवल धर्म मत को लेकर ही नहीं, जाति को लेकर भी यह विवाद खड़ा हुआ—हमारे समाज के दो प्रबल अंग ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच विवाद आरम्भ हुआ। हजारों वर्षों तक जो बड़ी धारा सम्पूर्ण भारतवर्ष को डुबो रही थी, उसी समय हम लोग एक महान् मूर्ति का दर्शन

कर्मयोगी श्रेष्ठ भगवान बुद्ध

पाते हैं। वह और कोई नहीं, भगवान बुद्ध हैं। आप सब लोग उनके उपदेश और प्रचार-कार्य को जानते ही हैं। हम लोग उन्हें ईश्वर का अवतार समझ कर पूजा करते हैं। संसार में नीतितत्व का इतना बड़ा प्रचारक और कहीं कभी देखने मे नहीं आया। मानो स्वयं श्रीकृष्ण ही स्वयं अपने मत को कार्य रूप में परिणत करने के लिये आविर्भूत हुए। फिर वह वाणी आविर्भूत हुई, जिसने गीता में शिक्षा दी थी—

स्वल्पमपस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् । २ । ४०

इस धर्म का साधारण अनुष्ठान भी बहुत बड़े भय से रक्षा करता है।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ९ । ३२ गीता

'स्त्री, वैश्य, यहाँ तक कि शूद्र तक परम गति को प्राप्त होता है।' गीता की वाणी, श्रीकृष्ण की वज्र के समान गम्भीर वाणी सब की श्रृङ्खला को तोड़ देती है, सब के लिये उस परम पद को पाने के अधिकार की घोषणा करती है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्येस्थितं मन ।

निर्दोषंहि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता । गीता । ५ । १९

जिनका मन समभाव से अवस्थित है, उन्होंने यहीं पर संसार को विजय कर लिया है। ब्रह्म समभाव रखने वाले और निर्दोष हैं, इसलिये वे ब्रह्म में स्थित हैं।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवास्थितमीश्वरम्

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो यातिपरा गतिम् । गी० १३ । २८

परमेश्वर को सर्वत्र समभाव से अवस्थित देख कर वह अपने द्वारा आत्मा का नाश नहीं करता और इसी से वह परम गति को प्राप्त होता है।

गीता के उपदेश के जीते जागते उदाहरण स्वरूप, वह अक्षर अक्षर कार्य रूप में परिणत हो, इसी के लिये गीता के उपदेशक ने अन्य रूप में मृत्युलोक में अवतार लिया। यही

बुद्ध कृष्ण के गीता में कहे हुए कर्म योग को अपने जीवन में दिखलाने के लिये आये थे

शाक्य मुनि हैं। यह दीन दुखियों को उपदेश देने लगे। यह दीन दुखियों, तथा सर्वसाधारण के हृदय को अपनी ओर खींच सकें, इसके लिये वे देव भाषा संस्कृत तक को छोड़कर सर्व साधारण की भाषा मे उपदेश देने लगे। ये राजसिंहासन को छोड़कर दुखी दरिद्र पतित भिक्षुकों के साथ रहने लगे, दूसरे राम की तरह चाडाल को छाती से लगाने लगे।

आप सब लोग उनके महान् चरित्र और अद्भुत प्रचार-कार्य को जानते हैं। लेकिन इस प्रचार-कार्य मे एक बड़ी भारी त्रुटि थी। उसके लिये हम लोग आज तक भुगत रहे हैं। भगवान् बुद्ध का इसमे कोई दोष नहीं था, उनका चरित्र अत्यन्त पवित्र और महिमापूर्ण था। दुख की बात है कि बौद्ध धर्म-प्रचार के द्वारा जो असभ्य और अशिक्षित जातियाँ आर्य जाति में शामिल होने लगीं, वे बुद्धदेव के बतलाये हुये मार्ग को ठीक ठीक समझ नहीं सकीं।

बौद्ध धर्म की अवनति भारतीय सामाजिक जीवन में उसका बुरा परिणाम

इन जातियों में तरह तरह के कुसंस्कार और उपासना की बड़ी बुरी पद्धति प्रचलित थी। वे दल के दल आर्यजाति में सम्मिलित होने लगीं। कुछ समय तक तो ऐसा जान पड़ा कि ये सभ्य हो गयी हैं लेकिन एक शताब्दी बीतते न बीतते वे अपने पुरखों के भूत सर्प आदि की पूजा

समाज में चलाने लगीं। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत कुसंस्कारों से भर गया और उसकी घोर अवनति होने लगी। पहले तो बौद्ध लोग प्राणि हिंसा की निन्दा करके वैदिक यज्ञों के घोर विरोधी हो उठे थे। उस समय घर घर मे यज्ञ होते थे। प्रत्येक घर मे यज्ञ के लिये अग्नि प्रज्वलित होती, यज्ञ में कुछ आडम्बर न होता था। बौद्ध धर्म प्रचार से ये यज्ञादि कर्म लुप्त हो गये उसके स्थान पर बड़े बड़े ऐश्वर्यशाली मन्दिर, आडम्बर-पूर्ण अनुष्ठान, पाखंडी पुरोहित तथा वर्तमान समय में भारत मे जो कुछ दिखलाई पड़ता है, उन सब का आविर्भाव हुआ। जिनसे अधिक सत्यता की आशा की जाती है, ऐसे बहुत से आधुनि व्यक्तियों के ग्रन्थों में पढ़ा जाता है कि बुद्ध देव ने ब्राह्मणों व मूर्ति-पूजा को उठा दिया था, मैं इसे पढ़कर अपनी हँसी नह रोक सकता। वे यह नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ने ही भारत वं ब्राह्मण-धर्म और मूर्ति पूजा की सृष्टि की थी। दो एक वर्ष पहले की बात है, एक रूसी सज्जन ने एक पुस्तक प्रकाशित कराई उन्होंने उसमें यह दावा किया कि उन्हें ईसा मसीह का एक अद्‌भुत जीवन चरित मिला है। वह उस पुस्तक में एक स्थान पर लिखते हैं कि ईसा मसीह ब्राह्मणों के पास धर्म की शिक्षा पाने के लिये जगन्नाथ जी के मन्दिर में गये, लेकिन उनकी संकीर्णता और मूर्ति-पूजा से विरक्त होकर वहां से तिब्बत में लामा के पास धर्म की शिक्षा पाने के लिये गये और उनसे उपदेश पाकर अपने देश को लौट आये। जो भारत के इतिहास

से कुछ भी परिचित हैं, वे जानते हैं कि इस पुस्तक में लिखी हुई बात कहाँ तक सार है, जगन्नाथ जी का मन्दिर पुराना बौद्ध मन्दिर है। हम लोगों ने इसको तथा अन्यान्य बौद्ध मन्दिरों को हिन्दू मन्दिर बना लिया। इस तरह के काम हम लोगों को अब भी करने होंगे। यही जगन्नाथ का इतिहास है और उस समय एक भी ब्राह्मण न था तो भी कहा जाता है कि वहाँ पर ईसा मसीह ब्राह्मणों से उपदेश लेने के लिये आये थे। हमारे रूसी दिग्गज विद्वान यह बात बतलाते हैं। पूर्वोक्त कारणों से बौद्ध धर्म को सब प्राणियों में दया, उसका अपूर्व नीति-तत्व और नित्य आत्म का अस्तित्व तथा पक्का विचार के रहते भी सारा बौद्ध धर्म रूपी प्रासाद चूर्ण विचूर्ण हो गया और चूर्ण होने पर जो भग्नावशेष रह गया यह अत्यन्त वीभत्स है। बौद्ध धर्म की अवनति के परिणाम स्वरूप जो वीभत्स व्यापार होने लगे, उन्हें वर्णन करने के लिये न तो मेरे पास समय ही है और न मेरी इच्छा ही है। वे अत्यन्त वीभत्स अनुष्ठान, अत्यन्त भयानक और अश्लील ग्रन्थ जिनकी मनुष्य का मस्तिष्क कल्पना नहीं कर सकता ये सभी बातें अवनत बौद्ध धर्म की सृष्टि हैं।

रूस के एक सज्जन द्वारा लिखित ईसा की जीवनी उनके भारत आने की कपोल कल्पना

किन्तु भारत की जीवनी शक्ति उस समय भी नष्ट नहीं हुई थी इसी से फिर भगवान का आविर्भाव हुआ। जिन्होंने कहा था

कि जब जब धर्म की ग्लानि होती है, तब तब मैं आता हूँ। वह फिर से पृथ्वी मे आये। यह ब्राह्मण युवक जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि सोलह वर्ष की ही अवस्था में उसने सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ लिया था, उस अद्भुत प्रतिभाशाली शंकराचार्य

ज्ञानावतार भगवान शङ्कराचार्य

का अभ्युदय हुआ। इस सोलह वर्ष के बालक के लेखों को देखकर आधुनिक सभ्य जगत् चकित हो जाता है और वे थे भी अद्भुत पुरुष। उन्होंने संकल्प कर लिया था कि समूचे भारतवर्ष को शुद्ध मार्ग पर लाऊँगा। आप स्वयं देखिये यह काम कितना कठिन था। उस समय भारत की अवस्था जैसी थी, उस सम्बन्ध मे आप लोगों को थोड़ा सा बतला ही दिया है। आप लोग जो इन भीषण आचारों के सस्कार के लिये अग्रसर हो रहे हैं, वह उस अध पतन के युग से चले आ रहे हैं। तातार बलूची आदि भयानक जातियाँ भारत में आकर बौद्ध होकर हम लोगों में मिल गई थीं। वे अपने साथ साथ अपने जातीय आचरण को भी लेते आये थे। इस प्रकार हमारी जातीय जीवन अत्यन्त भयानक पाशविक आचारों का समूह हो गया। उस ब्राह्मण युवक ने बौद्धों से विरासत के रूप में इन्हें ही पाया था और उस समय से आज तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में इस अवनत बौद्ध धर्म पर वेदान्त का पुनर्विजय हो रहा है। अब भी यह कार्य हो रहा है। अब भी इसका अन्त नहीं हुआ है। महा दार्शनिक शङ्कर ने आकर दिखलाया कि

बौद्ध धर्म और वेदान्त के तत्वों में विशेष अन्तर नहीं है। तौ भी बुद्धदेव के शिष्य प्रशिष्य अपने आचार्य के उपदेश का आशय न समझ कर आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व का स्वीकार न कर नास्तिक बन गये। शंकर ने यही दिखलाया, उस समय सभी बौद्ध अपने पुराने धर्म को ग्रहण करने लगे। लेकिन वे सब इन अनुष्ठानों के आदी हो गये थे। उनके लिये क्या होगा, यह एक बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई।

रामानुजाचार्य

तब महात्मा रामानुज का अभ्युदय हुआ। शंकर महा मनीषी तो थे, लेकिन जान पड़ता है कि उनका हृदय रामानुज की तरह विशाल न था। रामानुज का हृदय शंकर से अधिक विस्तृत था। पतितों के दुःख से उनका हृदय काँप उठा। वह उनके दुःख को पूर्ण रूप से अनुभव करने लगे। उस समय जो नये नये अनुष्ठान प्रचलित हो गये, उन्हें लेकर यथासाध्य उनमें संशोधन किया और नये नये अनुष्ठान, नयी नयी उपासना की रीति चलाई और जो अत्यावश्यक थी, उनके लिये उपदेश देने लगे। साथ ही उन्होंने ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सब के लिये आध्यात्मिक उपासना का रास्ता खोल दिया। इस तरह रामानुज का कार्य चल निकला। उनके कार्य का प्रभाव चारों तरफ फैलने लगा। भारत में उसकी लहर सी आगई। उस समय कई एक आचार्य अनुप्राणित होकर कार्य करने लगे। किन्तु इसके कुछ दिनों बाद मुसलमानी शासन आरम्भ हुआ। इस

समय के आचार्यों में चैतन्य ही सर्वश्रेष्ठ हैं। रामानुज के समय से धर्म-प्रचार की एक विशेषता लक्ष्य करने योग्य है—वह यह है कि उस समय से सर्व साधारण के लिये धर्म का द्वार खोल दिया गया। शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों का जिस प्रकार यह मूल मन्त्र था वैसे ही रामानुज के बाद के आचार्यों का भी यह मूल मन्त्र हुआ। मैं नहीं जानता लोग शंकर को अनुदार मतावलम्बी क्यों कर कहते हैं। मैं उनके लिखे हुए ग्रन्थों में ऐसी कोई बात नहीं पाता जिससे उनकी संकीर्णता का परिचय पाया जाय। भगवान बुद्ध के उपदेश जिस प्रकार उनके शिष्यों तथा अनुचारियों द्वारा विकृत हुए थे, वैसे ही शंकराचार्य के उपदेशों पर जो संकीर्णता का दोषारोपण किया जाता है, उसमें सम्भवतः शंकराचार्य का कोई दोष नहीं है, उनके शिष्यों के समझने की असमर्थता से ही यह दोष सम्भवतः शंकर पर लगाया जाता है।

अब मैं आर्यावर्त-निवासी भगवान् चैतन्य के विषय में कुछ कह कर अपनी वक्तृता को समाप्त करूँगा। वह गोपियों के प्रेमोन्मत्त भाव के आदर्श थे। चैतन्य देव स्वयं ब्राह्मण थे। उस समय के एक बड़े पंडित घराने में उनका जन्म हुआ था। वह न्याय के अध्यापक होकर वाग्युद्ध में लोगों को परास्त करते थे, इसी से लड़कपन से ही उन्हें शिक्षा मिली थी। किसी महत् पुरुष की कृपा से इस व्यक्ति का सारा जीवन बदल गया। उस समय वह वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, न्याय का अध्यापन सब -

छोड़ बैठे। संसार में जो बड़े बड़े भक्ति के आचार्य हुए हैं, यह प्रेमोन्मत्त चैतन्य ही उनमें श्रेष्ठ है। उनका भक्तितरंग सारे बंगाल प्रान्त में वह निकला, सब के हृदय को शान्ति प्रदान किया। उनके प्रेम की सीमा न थी। साधु, पापी, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र, अपवित्र, वेश्या, पतित सभी उनके प्रेम के भागी थे। सभी पर वह दया करते थे और यद्यपि उनका चलाया सम्प्रदाय अवनति को प्राप्त होगया है, जैसा काल के प्रभाव से सभी अवनति को प्राप्त होते हैं, तो भी आज तक वह दरिद्र, दुर्बल, जातिच्युत, पतित, समाज में जिसके लिये कोई स्थान नहीं, ऐसे सभी व्यक्तियों के लिये आश्रय-दाता है। लेकिन मुझे सत्य के अनुरोध से यह मानना पड़ेगा कि दार्शनिक सम्प्रदायों में हम अद्भुत उदार भाव को देखते हैं। शंकराचार्य के मतवाले कोई इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में वास्तव में क्या भेद है। वे जाति भेद के सम्बन्ध में अत्यन्त संकीर्णता के समर्थक रहे हैं। प्रत्येक वैष्णव आचार्य के भीतर हम लोग जाति भेद के सम्बन्ध में अद्भुत उदारता देखते हैं, लेकिन धर्म के सम्बन्ध में उनका मत बहुत संकीर्ण है।

प्रेमावतार भगवान चैतन्य

एक महात्मा तो अद्भुत मस्तिष्क वाले थे, दूसरे विशाल हृदय वाले, इस समय एक ऐसे व्यक्ति का जन्म हुआ जिनमें एक साथ ही हृदय और मस्तिष्क दोनों था, जिन्होंने शंकर का

ज्ञान भक्ति के समन्वय भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस

अद्भुत मस्तिष्क और चैतन्य का अ
विशाल हृदय पाया था। जिन्होंने दे
कि सभी सम्प्रदाय में एक आत्मा है,
ईश्वर की शक्ति से अनुप्राणित है
प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है
जिनका हृदय भारत से भीतर या बाहर दरिद्र, दुर्बल, पतित
के लिये रो उठा, जिनकी विशाल बुद्धि इतने महत् तत्वों
खोज निकालने मे समर्थ थी जिनको काय रूप मे लाने से भार
के भीतर या बाहर सभी विरोधी सम्प्रदायों का समन्वय हो
और इस प्रकार अद्भुत समन्वय करके हृदय और मस्ति
की उन्नति करने वाले सार्वभौम धर्म का प्रकाश होगा। ऐसे व्यक्ति
ने हाल में जन्म लिया था, जिनके चरण तले बैठ कर कई व
तक मैंने शिक्षा पाई है। इसी तरह के एक व्यक्ति के जन्म ले
का एक समय हुआ था, प्रयोजन हुआ था। और विचित्र बा
यह है कि उनके जीवन का कार्य-क्षेत्र एक ऐसे शहर के पास था
जो पाश्चात्य भावों से बिल्कुल रङ्गा हुआ था, जो शहर भारत के
दूसरे शहरों से अधिक साहबी ठाट से रहता था। उनको
किताबी शिक्षा नाम मात्र को भी न थी, इतने बड़े महात्मा के हो
हुए भी वह अपना नाम तक नहीं लिख सकते थे, लेकिन हम
से प्रत्येक, जो विश्वविद्यालय के बड़े बड़े डिग्री धारी हैं,
बड़ा भारी महात्मा समझते थे। वह एक अद्भुत पुरुष थे।
के सम्बन्ध की बहुत सी बातें कहने को हैं, लेकिन अब

समय नहीं रहा। इसलिये मुझे भारतीय सभी महापुरुषों के पूर्ण प्रकाश रूप युगाचार्य महात्मा श्री रामकृष्ण के नाम मात्र ही का उल्लेख कर आज चुप लगाना पड़ता है जिनका उपदेश आज कल हम लोगों के लिये विशेष उपयोगी है। इस महापुरुष के भीतर जो दैवी शक्ति विराजमान थी, उसके प्रति लक्ष्य कीजिये। यह दरिद्र ब्राह्मण सन्तान था, बङ्गाल में शहर से दूर एक मामूली गाँव में उसका जन्म हुआ था। आज योरप और अमेरिका में हजारों व्यक्ति सचमुच फूल चन्दन से उसकी पूजा करते हैं और आगे भी हजारों लोग उसकी पूजा करेंगे। ईश्वरेच्छा कौन समझ सकता है? हे भाइयो, अगर आप इसमें विधाता का हाथ नहीं देखते हैं तो आप अंधे हैं, अवश्य ही जन्मांध हैं। अगर समय मिला और आप लोगों के साथ विचार करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ तो मैं आप लोगों को इस सम्बन्ध में और कहूँगा। इस समय केवल यही कहना चाहता हूँ कि यदि मैं अपने जीवन में एक भी बात सच कहना चाहता हूँ, तो वह उनका है, उन्हीं का कहा हुआ है और अगर ऐसी बात कहूँ जो झूठी और भ्रमात्मक है, जो मनुष्य जाति के लिये कल्याणकर नहीं है, तो वह सब मेरा है, उन सब के लिये मैं ही जिम्मेदार हूँ।

---

* अब हमें क्या करना है ?

संसार ज्यों ज्यों अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों जीवन समस्या गंभीर और जटिल होती जाती है। प्राचीन काल में जिस समय संसार भर में वेदान्त का सत्य रूप पहले पहल आविष्कृत हुआ उसी समय से उन्नति के मूल मंत्र और सार तत्व प्रचारित हो रहे हैं। सारे संसार को अपने साथ लिये बिना संसार का एक परिमाणु भी नहीं चल सकता। सम्पूर्ण जगत को साथ साथ उन्नति के मार्ग में अग्रसर न करने से संसार के किसी भी स्थान में किसी तरह की उन्नति नहीं हो सकती। प्रतिदिन बिल्कुल स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि केवल जातीय या किसी संकीर्ण भित्ति के ऊपर निर्भर करके किसी समस्या की मीमांसा नहीं हो सकती। चाहे कोई भी विषय या भाव होवे, उसे उदार से उदार बनना पड़ेगा, जब तक कि वह सार्वभौम न हो जाय। चाहे कोई भी आकांक्षा

जीवन समस्या की सार्वभौमिक मीमांसा

---

* यह व्याख्यान ट्रिप्लीकेन की साहित्य समिति में दिया गया था। इसी समिति के उद्योग से स्वामी जी चिकागो की धर्म महासभा में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि बनकर गये थे।

हो उसे क्रमशः इतना वढाना पड़ेगा, जिससे वह समस्त प्राणी जगत् को अपनी सीमा के अन्दर कर लेवे।

इससे ज्ञात पड़ेगा कि प्राचीन काल में हमारा देश जो महत्व के पद पर आसीन था, गत कई शताब्दियों से वह उस पद पर नहीं है। और यदि हम लोग इसका कारण ढूँढ़ना चाहें कि यह अवनति किस प्रकार हुई तो हमें मालूम होगा कि हमारी दृष्टि की संकीर्णता, हमारे कार्य क्षेत्र का सकोच ही इसका मूल कारण है।

ग्रीक और हिन्दू

संसार में दो आश्चर्यजनक जातियाँ हुई हैं। एक मूल जाति से उत्पन्न, किन्तु विभिन्न देशकाल के घटनाचक्र में स्थापित, दूसरी अपनी निजी निर्दिष्ट मार्ग में जीवन-समस्या के समाधान में लीन, ये दो जातियाँ प्राचीन हैं। मैं प्राचीन हिन्दू और प्राचीन ग्रीक जाति की बात कह रहा हूँ। उत्तर में हिमालय के बर्फीली चोटियों से घिरे स्थानों, घने वनों और पुण्य सलिला नदियों के तट पर भारतीय आर्यों का मन सहज ही अन्तर्मुखी हुआ। आर्य जाति स्वभावतः अन्तर्मुखी थी, दूसरे चारों तरफ जो भावोद्दीपक दृश्य थे, उनसे उनके सूक्ष्म भावों को ग्रहण करने वाला मस्तिष्क स्वभावतः अन्तस्तत्वानुसंधान-परायण हुआ, अपने चित्त का विश्लेषण करना भारतीय आर्यों का प्रधान लक्ष्य हुआ। दूसरी ओर ग्रीक जाति एक ऐसे स्थान में निवास करती थी, जहाँ पर गम्भीरता की अपेक्षा सौन्दर्य का अधिक समावेश

है, ग्रीक द्वीप-समूह के छोटे छोटे द्वीप मानो हँसते रहते हैं, इसी से उनके निवासियों का मन सहज ही वहिर्मुख हुआ, यह वाह्य जगत के विश्लेषण में सलग्न हुआ, उसके फलस्वरूप हम देखते हैं कि भारत से सब तरह के विश्लेषणात्मक और ग्रीस से श्रेणी विभागात्मक विज्ञान की उत्पत्ति हुई।

हिन्दूपन ने अपने विशिष्ट मार्ग से चलकर अत्यन्त अद्भुत फल उत्पन्न किया। इस समय भी हिन्दुओं की जैसी विचार शक्ति है, भारतीय मस्तिष्क अब भी जिस प्रकार की शक्ति का आधार है, उसके साथ और किसी भी जाति की तुलना नहीं हो सकती। हम सभी लोग जानते हैं कि हमारे देश के बच्चे और देशों के बच्चों के साथ प्रतियोगिता करने पर बढ़ जाते हैं लेकिन तो भी जिस समय, संभवत मुसलमानों के भारत-विजय के दो एक शताब्दी पहले, जातीय शक्ति का लोप हुआ, उस समय इस जातीय विशेषता को लेकर इतनी बढ़ा-ऊपरी हुई कि यह अवनति दशा को प्राप्त हो गई। और हमारे भारतीय शिल्प, संगीत, विज्ञान सभी विषयों में इस अवनति के कुछ कुछ चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं। शिल्प में यह उदार धारणा न रह गयी, न भावों की उच्चता और विभिन्न अंगों के सामंजस्य की चेष्टा ही रह गई। सभी बातों में केवल दिखावट और बनावट आगई, सारी जाति की मौलिकता ही मानो नष्ट हो

मुसलमानों के भारत पर विजय पाने के पहले ही हिंदू जाति की अवनति

गई। प्राचीन संस्कृत संगीत में हृदय को उन्मत्त बनाने वाला गंभीर भाव न रह गया। पहले जिस प्रकार प्रत्येक सुर स्वतंत्र रूप में अपने पाँव पर खड़ा रहता, और अपूर्व ऐक्य तान की सृष्टि करता, वह बात अब न रह गई, सम्पूर्ण सुरों की मानों स्वतंत्रता ही जाती रही। हमारा आधुनिक सगीत अनेक ताल-सुरों की खिचड़ी सा हो गया है। यही संगीत शास्त्र की अवनति का चिन्ह है। भावराज्य सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का विश्लेषण करने पर इस तरह की अलंकार प्रियता की अधिकता और मौलिक्ता का अभाव आपको दिखलाई पड़ेगा। इसी प्रकार धर्म में भी अवनति घर कर गई। जो जाति शताब्दियों से एक ग्लास पानी दाहने से पीना चाहिये, या बायें हाथ से, इस समस्या को हल करने में व्यस्त है, वह जाति कितनी अवनति अवस्था को पहुँच गई, इसे क्या बतलाना पड़ेगा। वेदान्त के तत्व समूह, जगत में प्रचलित ईश्वर और आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्तों के बीच महान और उज्ज्वल सिद्धान्त नष्ट प्राय हो गये, घने बनों में कुछ सन्यासी साधुओं ने उसे छिपा रखा, बाकी और लोग खान-पान, छुआछूत के पचड़े में पड़े रहे। मुसलमान लोगों ने भारत को जीतकर, जो कुछ वे जानते थे, ऐसे अनेक विषयों को उन्हें सिखाया। क्योंकि संसार में हीन से हीन मनुष्य भी श्रेष्ठ मनुष्यों को कुछ न कुछ सिखा ही सकता है। किन्तु वे हमारी जाति के भीतर शक्ति का संचार न सके।

अन्त में हमारे भाग्य से हो, चाहे दुर्भाग्य से हो, अंग्रेजों ने

हिन्दुस्तान को जीता। यह ठीक है कि दूसरे देश पर विजय प्राप्त करने का परिणाम अच्छा नहीं होता, विदेशी शासन कभी कल्याणकर नहीं होता, तो भी कभी कभी बुराई के बीच भी भलाई निकल ही आती है। इगलैंड और सारा योरप सभ्यता के लिये ग्रीस का ऋणी है। योरप के सभी भावों के बीच मानो ग्रीस की ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

अंग्रेजों द्वारा भारत-विजय का शुभ फल

उसके घर घर में, घर के हर एक असबाब तक मे मानो ग्रीस की ही छाप पड़ी होती है। योरप का विज्ञान, शिल्प सभी ग्रीस की छाया मात्र है। आज भारत में यह प्राचीन ग्रीक और प्राचीन हिन्दू एकत्र मिल गये हैं। इस प्रकार धीरे धीरे चुपचाप एक प्रकार का परिवर्तन हो रहा है। और हम लोग चारों तरफ़ जो उदार जीवनप्रद जागृति का आन्दोलन देख रहे हैं, वह इन सभी भिन्न भिन्न भावों के एकत्र मिश्रित होने का परिणाम है। हमारी मनुष्य जीवन सम्बन्धी धारणायें और भी प्रशस्त होती जाती हैं। हम लोग उदारता के साथ सहृदयता और सहानुभूति के साथ मनुष्य जीवन की समस्याओं की ओर दृष्टि डालना सीख रहे हैं और यद्यपि पहले हम लोगों ने भूल में पड़ कर अपने भावों को कुछ संकीर्ण करने का प्रयत्न किया था, किन्तु अब हम लोग समझ गये हैं कि चारों तरफ़ जो सहृदयता-पूर्ण भाव दिखलाई पड़ते हैं, वे हमारे प्राचीन शास्त्रों में लिखे उपदेशों के स्वाभाविक परिणति स्वरूप हैं। हमारे पूर्वजों

ने अत्यन्त प्राचीन काल मे जिन तत्वों का आविष्कार किया था, वे ही भाव यदि ठीक ठीक कार्य रूप मे परिणत किये जाँय तो हम लोग उदार हुए विना न रहेंगे। हमारे शास्त्रों में बतलाये हुए सभी विषयों का लक्ष्य है—स्वयं क्षुद्र वस्तु से उत्पन्न होकर सभी के साथ मिलते हुए परस्पर मे भाव अदान-प्रदान कर उदार से भी उदार होना—क्रमश सार्वभौमिक रूप ग्रहण करना। किन्तु हम लोग शास्त्रों का उपदेश न मान कर अपने को अधिक से अधिक संकीर्ण बना रहे हैं, अपने को सुखा रहे हैं। हम लोगों की उन्नति के मार्ग मे कितने ही विघ्न हैं, उनमे हम लोग संसार में सर्वश्रेष्ठ जाति हैं, यह भी है। मैं भारत को प्राणों से अधिक प्यार करता हूँ, देश की भलाई के लिये मैं सदा कमर कसे रहता हूँ, मैं अपने पुरुखों पर विशेष श्रद्धा भक्ति रखता हूँ तौ भी संसार से हम लोगों को बहुत सी बातें सीखनी हैं, इस धारणा का त्याग करने मे मैं असमर्थ हूँ। हम लोगों को शिक्षा ग्रहण करने के लिये सभी के पैरों तले सदा बैठने को तैयार रहना होगा। इसका कारण यह है कि इस बात पर हम लोगों को विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सभी हम लोगों को बड़ी से बड़ी शिक्षा दे सकते हैं। सर्वश्रेष्ठ स्मृतिकार मनु जी ने लिखा है—

श्रद्दधान शुभा विद्यामाददीता वरादपि।
अन्त्यदपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।

अर्थात् श्रद्धावान होकर नीच जाति से भी हितकर विद्या ग्रहण करना चाहिये, और नीच जाति से भी धर्म की शिक्षा ग्रहण

करना चाहिये, और नीच कुल से भी स्त्री रत्न को ग्रहण करना उचित है।

अत यदि हम लोग मनु महाराज की योग्य सन्तान हैं तो उनका आदेश हम लोगों को अवश्य पालन करना चाहिये। जो कोई भी व्यक्ति हम लोगों को शिक्षा देने में समर्थ हो, उस से लौकिक वा पारलौकिक विषयों की शिक्षा ग्रहण करने को तैयार रहना होगा।

दूसरी ओर हम लोगों को भुला देने से भी काम नहीं चल सकता, हम लोगों को संसार को भी कुछ सिखलाना है, भारत के अतिरिक्त और देशों से सम्बन्ध रखे विना नहीं चल सकता। हम लोगों ने एक समय सोचा था, वह हम लोगों की मूर्खता थी, और उसी के दण्ड स्वरूप आज हजार वर्ष से दासता की जंजीरों से जकड़े हुए हैं। हम लोग दूसरी दूसरी जातियों के साथ अपनी तुलना करने के लिये बाहर नहीं जाते, हम लोग जगत की गति को देख कर चलना नहीं सीखते, यही भारत-वासियों के मन की अवनति का एक प्रधान कारण है। हम लोग काफी सजा भुगत चुके हैं, अब और भ्रम में पड़ने की जरूरत नहीं। भारतवासियों को विदेश जाना अनुचित है, यह कहना मूर्खता और लड़कपन है। इस प्रकार की धारणाओं को निर्मूल करना होगा। तुम लोग जितना ही भारत से बाहर दूसरे दूसरे

विदेशों में धर्म प्रचार और विदेशियों के साथ मिलना आवश्यक कर्तव्य है।

मुल्कों में भ्रमण करोगे, दूसरी दूसरी जातियों से मिलोगे, उतना ही तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा। तुम लोग शताब्दियों पहले ही से यह करते होते तो आज जो कोई जाति तुम्हारे ऊपर अधिकार करना चाह रही है, उसके सामने झुकना न पड़ता। जीवन का पहला चिन्ह है विस्तार। अगर तुम लोग जिन्दा रहना चाहते हो, तो तुम लोगों को संकीर्णता छोड़ देनी पड़ेगी। जिस क्षण तुम लोगों का विस्तार बन्द हो जायगा, उसी क्षण से समझ लेना चाहिये, कि मृत्यु तुम्हारे सिर पर मड़रा रही है, विपत्ति तुम्हारे सामने है। मैं योरप और अमेरिका में गया था, आप लोगों ने भी उदारता के साथ इसका उल्लेख किया है। मुझे वहाँ पर इसी से जाना पड़ा था कि विस्तार ही जातीय अभ्युदय का पहला चिन्ह है। इस अभ्युदयशील जातीय जीवन ने भीतर ही भीतर विस्तार प्राप्त करके मुझे मानो दूर फेंक दिया था, हजारों आदमियों को इसी तरह दूर दूर की यात्रा करनी पड़ेगी। मेरी बात को ध्यान देकर सुनो। अगर इस जाति को जीवित रखना है, तो ऐसा करना ही पड़ेगा। इसलिये यह विस्तार जातीय जीवन के पुनरुभ्युदय का मुख्य लक्षण है और इसी विस्तार के साथ मनुष्य की समग्र ज्ञान समष्टि को जो कुछ देना है, सारे संसार की उन्नति के लिये हम लोगों को जो कुछ भी देना है, वह भी भारत के अतिरिक्त और देशों में जा रहा है।

और यह कोई बात नहीं है। तुम लोगों मे जो यह ख्याल

करना चाहिये, और नीच कुल से भी स्त्री रत्न को ग्रहण करना उचित है।

अत यदि हम लोग मनु महाराज की योग्य सन्तान हैं तो उनका आदेश हम लोगों को अवश्य पालन करना चाहिये। जो कोई भी व्यक्ति हम लोगों को शिक्षा देने में समर्थ हो, उस से लौकिक वा पारलौकिक विषयों की शिक्षा ग्रहण करने को तैयार रहना होगा।

दूसरी ओर हम लोगों को भुला देने से भी काम नहीं चल सकता, हम लोगों को संसार को भी कुछ सिखलाना है, भारत के अतिरिक्त और देशों से सम्बन्ध रखे बिना नहीं चल सकता। हम लोगों ने एक समय सोचा था, वह हम लोगों की मूर्खता थी, और उसी के दण्ड स्वरूप आज हजार वर्ष से दासता की जंजीरों से जकड़े हुए हैं। हम लोग दूसरी दूसरी जातियों के साथ अपनी तुलना करने के लिये बाहर नहीं जाते, हम लोग जगत की गति को देख कर चलना नहीं सीखते, यही भारत वासियों के मन की अवनति का एक प्रधान कारण है। हम लोग काफी सजा भुगत चुके हैं, अब और भ्रम में पड़ने की जरूरत नहीं। भारतवासियों को विदेश जाना अनुचित है, यह कहना मूर्खता और लडकपन है। इस प्रकार की धारणाओं को निर्मूल करना होगा। तुम लोग जितना ही भारत से बाहर दूसरे दूसरे

विदेशों में धर्म प्रचार और विदेशियों के साथ मिलना आवश्यक कर्तव्य है।

मुल्कों में भ्रमण करोगे, दूसरी दूसरी जातियों से मिलोगे, उतना ही तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा। तुम लोग शताब्दियों पहले ही से यह करते होते तो आज जो कोई जाति तुम्हारे ऊपर अधिकार करना चाह रही है, उसके सामने झुकना न पड़ता। जीवन का पहला चिन्ह है विस्तार। अगर तुम लोग जिन्दा रहना चाहते हो, तो तुम लोगों को संकीर्णता छोड़ देनी पड़ेगी। जिस क्षण तुम लोगों का विस्तार बन्द हो जायगा, उसी क्षण से समझ लेना चाहिये, कि मृत्यु तुम्हारे सिर पर मड़रा रही है, विपत्ति तुम्हारे सामने है। मैं योरप और अमेरिका में गया था, आप लोगों ने भी उदारता के साथ इसका उल्लेख किया है। मुझे वहाँ पर इसी से जाना पड़ा था कि विस्तार ही जातीय अभ्युदय का पहला चिन्ह है। इस अभ्युदयशील जातीय जीवन ने भीतर ही भीतर विस्तार प्राप्त करके मुझे मानो दूर फेंक दिया था, हजारों आदमियों को इसी तरह दूर दूर की यात्रा करनी पड़ेगी। मेरी बात को ध्यान देकर सुनो। अगर इस जाति को जीवित रखना है, तो ऐसा करना ही पड़ेगा। इसलिये यह विस्तार जातीय जीवन के पुनरुभ्युदय का मुख्य लक्षण है और इसी विस्तार के साथ मनुष्य की समग्र ज्ञान समष्टि को जो कुछ देना है, सारे संसार की उन्नति के लिये हम लोगों को जो कुछ भी देना है, वह भी भारत के अतिरिक्त और देशों में जा रहा है।

और यह कोई बात नहीं है। तुम लोगों में जो यह ख्याल

करते हों कि हिन्दू लोग सदा से अपने देश की चहारदिवारी में बन्द रहे हैं, वे बिल्कुल गल्ती में हैं। तुम लोगों ने अभी अपने शास्त्रों को पढ़ा नहीं है, और न अपने जातीय इतिहास का ही अध्ययन किया है। चाहे जो कोई जाति हो, उसे जीवित रहने के लिये कुछ देना होगा। प्राण देने पर प्राण मिलेगा। दान लेने पर उसके मूल्य स्वरूप सब को कुछ न कुछ देना होगा। इतने दिनों से हम लोग जीवित हैं—इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। इस समय तक हम लोग किस तरह जीवित रहे हैं, यदि इस समस्या का समाधान करना हो, तो यह स्वीकार करना होगा कि चाहे मूर्ख लोग कुछ ख्याल करें पर हम लोग चिरकाल से संसार को कुछ न कुछ देते आये हैं।

विदेश-यात्रा हिंदुओं के लिये कोई नयी बात नहीं।

भारत का दान है धर्म, दार्शनिक ज्ञान, आध्यात्मिकता। धर्म-ज्ञान को फैलाने, धर्म प्रचार के रास्ते को साफ करने के लिये सेना की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान और दार्शनिक तत्व को दूसरों का खून बहा कर नहीं फैलाया जा सकता। ज्ञान और दार्शनिक तत्व रक्त से सने हुए मनुष्यों की देह पर से नहीं [illegible] सकते। यह शान्ति और प्रेम के भावों [illegible] पूर्ण हो आगमन करते हैं। और सदा से यही होता आया है इसलिये यह देखा गया है कि भारत को भी सदा संसार को कु[illegible]

भारत का दान धर्म दान है

न कुछ देना पड़ा है। लंडन की एक युवती ने मुझसे एक बार पूछा था, "हिन्दुओं ने क्या किया है? तुम लोगों ने कभी एक जाति को भी नहीं जीता।" अंग्रेज जाति के लिये, जो साहसी वीर, क्षत्रिय प्रकृति के हैं, दूसरे को विजय करना गौरव की बात समझी जाती है। यद्यपि उनकी दृष्टि से यही ठीक है लेकिन हम लोगों की दृष्टि बिल्कुल इसके विपरीत है। जब मैं अपने मन से पूछता हूँ कि भारत की श्रेष्ठता का कारण क्या है, तो यह उत्तर पाता हूँ कि इसका कारण यह है कि हम लोगों ने कभी दूसरी जाति को जीता नहीं। यही हम लोगों के लिये अत्यन्त गौरव की बात है। आप लोग आज-कल सदा ही इस बात की निन्दा सुनते आ रहे हैं कि हम लोगों का धर्म दूसरों के धर्म को विजय करने में समर्थ नहीं रहा है और मैं दुख के साथ कहता हूँ कि यह बातें ऐसे लोगों के मुँह से सुनने में आती हैं जिनसे अधिक ज्ञान की आशा की जाती है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हम लोगों का धर्म जो और दूसरे धर्मों से सत्य से अधिक निकट है, यही उसकी एक प्रधान युक्ति है। हम लोगों का धर्म कभी दूसरे धर्म को विजय करने में प्रवृत्त नहीं होता, यह कभी दूसरों का खून नहीं बहाता। इसने सदा ही आशीर्वाणी और शान्ति वाक्य का उच्चारण किया है, सबसे प्रेम और सहानुभूति की बातें कही हैं। यहीं पर—

हिन्दुओं ने चुपचाप शान्तभाव से उसे दान किया है

केवल यहीं पर—दूसरे धर्मों के प्रति द्वेष भाव न रखने के भाव की पहले-पहल शिक्षा दी गई। केवल यहीं पर दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता और सहानुभूति का भाव कार्यरूप में परिणत हुआ है। दूसरे देशों में यह केवल मतवाद के ही रूप में रहा है। केवल यहीं पर हिन्दू लोग मुसलमानों के लिये मस्जिद और ईसाइयों के लिये गिर्जाघर बनवाते हैं। इसलिये हे सज्जनो, आप लोग समझ गये होंगे कि हम लोगों ने अपने भावों को ससार मे कई बार फैलाया है लेकिन बहुत धीर और अज्ञात भाव से। भारत सभी बातों में ऐसा ही करता रहा है। भारतीय चिन्तना का एक लक्षण उसका शान्तभाव, उसकी नीरवता है। उसके पीछे जो प्रबल शक्ति रही है, उसे बल-वाचक शब्दों से नहीं कहा जा सकता। उसे भारतीय चिन्ताराशि की शान्त मोहिनी शक्ति कही जा सकती है। जब कोई विदेशी हम लोगों के साहित्य का अध्ययन करने में प्रवृत्त होता है तो पहले वह उसे अच्छा नहीं लगता। उसमे उसके साहित्य की तरह उद्दीपना अथवा तीव्र गति नहीं दिखलाई पड़ती जिससे शीघ्र ही वह मस्त हो जाय। योरप के वियोगान्त नाटकों के साथ हम लोगों के नाटकों की तुलना कीजिये। पाश्चात्य नाटक घटना-वैचित्र्य-पूर्ण होते हैं। वे क्षण भर के लिये मन को उत्तेजना से भर देते हैं, लेकिन ज्योंही वे समाप्त हो जाते हैं, शीघ्र ही प्रतिक्रिया होती है, सभी दिमाग से चला जाता है। भारतीय वियोगान्त नाटक मानो जादू की तरह धीरे से चुपके से असर करते हैं। लेकिन

एक बार पढ़ना आरम्भ करने पर उनका प्रभाव तुम्हारे ऊपर होने लगता है, तुम बचकर कहाँ जा सकते हो ? और जिस व्यक्ति ने हम लोगों के साहित्य को स्पर्श करने का साहस किया है उसी ने उसके बन्धन का अनुभव किया है। वही उसके प्रेम बन्धन में पड़ गया है।

जिस तरह ओस की बूँदें अदृश्य भाव से पड़ने पर भी सुन्दर गुलाब की कली को खिलाती हैं उसी तरह से सम्पूर्ण संसार की चिन्ताराशि भारत के प्रति ऋणी हैं। अज्ञात रूप से, शान्त भाव से और अदम्य महाशक्ति के बल पर उसने सम्पूर्ण संसार के विचारों में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। तो भी कोई नहीं जानता कि कब ऐसा हुआ। एक बार किसी ने मुझसे बातचीत के सिलसिले में कहा था कि 'किसी भारतीय ग्रन्थकार के नाम का पता चलाना कितना कठिन काम है।' इसका मैं उत्तर देता हूं कि यही भारत का भाव संगत है। वे आजकल के ग्रन्थकारों की तरह न थे, जो दूसरे ग्रन्थों से ६० फी सदी चोरी करते हैं, सौ में केवल दस फी सदी उनका होता है, लेकिन वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक भूमिका लिखकर पाठकों से यह कहना नहीं भूलते कि 'इस मत का मैं ही उत्तरदायी हूँ।' जो महा मनीषि मानव जाति के हृदय में गम्भीर तत्वों के भाव भर गये हैं, वे ग्रन्थ लिखकर ही सन्तुष्ट रहते थे, ग्रन्थों में

भारतीय ग्रन्थकार अज्ञातनामा हैं

अपने नाम तक नहीं देते थे, वे समाज को अपने ग्रन्थों का उपहार देकर चुपचाप मर गये। हम लोगों के दर्शनकारों तथा पुराण लिखने वालों का नाम कौन जानता है? वे सभी व्यास कपिल आदि उपाधियों से परिचित हैं। वे ही श्रीकृष्ण के प्रकृत सतान हैं। उन्होंने ही गीता का यथार्थ अनुसरण किया है। वे ही अपने जीवन में श्रीकृष्ण के इस महान उपदेश का पालन कर गये हैं—

कर्मण्ये वाधिकारास्ते मा फलेषु कदाचन। २। ४२

कर्म करने ही का तुझे अधिकार है, फल का कभी अधिकार नहीं है।

सज्जनो, भारत इस प्रकार सम्पूर्ण संसार से बढकर कार्य करता है। तो भी इसमें एक बात की कमी है। वाणिज्य वस्तु जिस प्रकार किसी व्यक्ति विशेष के बनाये रास्ते से ही एक स्था से दूसरे स्थान को जा सकती हैं, वही बात भावों के सम्ब में भी कही जा सकती है। भाव राशि एक देश से दूसरे देश को जाने के लि उसके जाने का रास्ता तैयार करना आवश्यक है, जगत के इतिहास में जब कभी किसी दिग्विजयी जाति ने उठ क संसार के भिन्न भिन्न देशों को एक सूत्र में बाँध दिया है, उस समय उसी मार्ग से भारत की विचार धारा बही है और प्रत्येक जाति की नस नस में प्रवेश कर गई है।

विदेशियों का विजय आने जाने की सुविधा करके भारत के धर्म विस्तार में सहायक हैं।

ज्यों ज्यों दिन बीतते जाते हैं, त्यों त्यों इस बात के लिये प्रमाण मिलते जाते हैं कि बौद्ध मत के उत्पन्न होने के पहले भी भारतीय भाव सम्पूर्ण संसार में फैले हुए थे। बौद्ध धर्म के अभ्युदय के पहले ही वेदान्त ने चीन, फारस और पूर्वी द्वीप समूहों में प्रवेश किया था। फिर जब महान ग्रीक शक्ति ने सम्पूर्ण पूर्वी देशों को एक सूत्र में बाँधा तो फिर भारतीय भाव की धारा प्रवाहित हुई थी। ईसाई मत ने भी, जो अपनी सभ्यता के लिये इतना गर्व करता है, भारतीय भावों से लाभ उठाया है। हम लोग उसी धर्म के उपासक हैं। बौद्ध धर्म (अपने इतने महत्व के होते हुए भी) जिसकी विद्रोही सन्तान है और ईसाई मजहब जिसका अत्यन्त नगण्य अनुकरण मात्र है। अब फिर युगचक्र फिरा है, फिर वैसा ही समय आया है। इंग्लैंड ने अपनी प्रबल शक्ति से ससार के भिन्न भिन्न भागों को एक मे मिलाया है। रोमनों की तरह अंग्रेजों का रास्ता सिर्फ स्थल मार्ग ही में नहीं, बल्कि अतल समुद्र के प्रत्येक अंश की ओर गया है। इंग्लैंड के यान एक समुद्र से दूसरे समुद्र को जाते हैं। संसार का एक भाग अन्य भागों से मिल गया है और बिजली की शक्ति इनका काम कर रही है। इस तरह की अनुकूल अवस्था को पाकर भारत फिर से जग रहा है, और ससार की उन्नति और सभ्यता जो कुछ दे सकती है, देने को तैयार है। इसके फल-स्वरूप प्रकृति ने मानो मुझ पर दबाव डालकर मुझे इंग्लैंड और अमेरिका धर्म-प्रचार के लिये भेजा था। हम में से प्रत्येक को आशा करना

उचित ही था कि इसके लिये समय आ गया है। सभी तरह शुभ लक्षण दिखलाई पड रहे हैं और भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक विचार जाकर सारे विश्व को विजय करेंगे। इस प्रकार हमारी जीवन समस्या क्रमशः बड़ा आकार धारण कर रही है। हम लोगों को सिर्फ अपने ही देश को नहीं जगाना है, यह तो बिल्कुल साधारण बात है। मैं एक कल्पना प्रिय भावुक व्यक्ति हूँ, मेरी यह धारणा है कि हिन्दू जाति सारे संसार पर विजय प्राप्त करेगी।

संसार मे बहुत सी बड़ी बड़ी दिग्विजयी जातियाँ हो गई हैं। हम लोग भी सदा दिग्विजयी रहे हैं। हम लोगों के दिग्विजय के उपाख्यान में भारत के उस महान् सम्राट अशोक के धर्म और आध्यात्मिकता के दिग्विजय का विदेशों में धर्म-प्रचार के वर्णन किया गया है। फिर भारत के द्वारा ही देश के कल्याण संसार पर विजय प्राप्त करना होगा। की सम्भावना है यही मेरे जीवन का स्वप्न है, जो मेरी बात को सुन रहे हैं उन सब के मन में यह कल्पना जागृत हो। और जब तक तुम इसे कार्य रूप में परिणत नहीं कर सकते, तब तक दम न लेना चाहिये। लोग तुमसे रोज कहेंगे कि पहले अपना घर तो सँभालो, फिर विदेश में प्रचार के लिये जाना। लेकिन मैं तुम लोगों को बिल्कुल स्पष्ट भाषा में कहता हूँ कि जब तुम लोग दूसरों के लिये कार्य करोगे तभी सर्वोत्तम कार्य कर सकोगे। आज की सभा से यह

प्रमाणित होता है कि तुम्हारे विचारों द्वारा दूसरे देशों में ज्ञानालोक फैलानेकी चेष्टा करने से वह किस प्रकार आप ही के लिये सहायक होगा। अगर मैं भारत ही में अपने कार्य क्षेत्र को सीमाबद्ध रखता तो इंगलैंड और अमेरिका जाने से जो कुछ अच्छा फल हुआ है, उसका एक चौथाई फल भी न होता। यही हम लोगों के सामने एक महान् आदर्श है और प्रत्येक को इसके लिये तैयार रहना पड़ेगा। भारत के द्वारा समस्त संसार को विजय करना होगा, इससे कम न करना पड़ेगा और इसके लिये हम लोगों को तैयार होना पडेगा, इसके लिये प्राणों की बाजी लगानी पड़ेगी। विदेशियों ने आकर अपनी सेना भारत भर में फैला दी है, लेकिन कुछ परवाह नहीं, भारत उठो, अपनी आध्यात्मिक शक्ति से संसार को जीत लो। इसी देश मे यह बात पहले पहल कही गई थी कि घृणा द्वारा घृणा को नहीं जीता जा सकता, प्रेम के द्वारा विद्वेष को जीता जा सकता है, हम लोगों को यही करना पड़ेगा। जड़वाद और उससे उत्पन्न दुःखों को जड़वाद के द्वारा नहीं जीता जा सकता। जब एक सेना दूसरी सेना को बाहुबल से जीतने का प्रयत्न करती है तो वह मनुष्य जाति को पशु जाति में परिणत कर देती है और क्रमशः पशुओं की संख्या बढ़ाने लगती है। आध्यात्मिकता अवश्य ही पाश्चात्य देशों को जीतेगी। धीरे धीरे वे लोग समझ रहे हैं कि यदि एक जाति के रूप में वे होना चाहते हैं तो उन्हें आध्यात्मिक भाव-सम्पन्न होना पड़ेगा। वे

इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और उत्सुक हैं। वह कहाँ से आयगा? भारत के महर्षियों के भावों को लेकर प्रत्येक देश मे जाने वाले लोग कहाँ पर मिलेंगे ? संसार की गली गली में यह कल्याण-कर बात गूँज उठे इसके लिये सर्वस्व त्याग करने को तैयार रहने वाले लोग कहाँ पर मिलेंगे ? सत्य के प्रचार मे सहायता करने वाले वीरों की आवश्यक्ता है। विदेशों में जाकर वेदान्त के इस महान तत्व का प्रचार करने के लिये वीर हृदय वाले कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। संसार के लिये इसकी आवश्यकता हुई है, अगर ऐसा न होगा तो संसार का नाश हो जायगा। सारा पाश्चात्य जगत मानो एक ज्वालामुखी पर्वत के ऊपर स्थित है—कल ही वह पर्वत फूट कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालेगा। उन्होंने संसार में सर्वत्र ढूँढ कर देखा है, लेकिन कहीं पर ढूँढ़े नहीं मिली है। उन्होंने सुख का प्याला खूब जी भर कर पिया है, किन्तु इससे उन्हें तृप्ति नहीं हुई। हम लोगों के लिये यही कार्य करने का समय है जिससे भारत का आध्यात्मिक भाव पाश्चात्य देशों में खूब फैल जाय। इसलिए हे मद्रास के नौजवानो! मैं तुम लोगों से इसे खूब अच्छी तरह से याद रखने के लिए कह रहा हूँ। हम लोगों को विदेश जाना होगा, आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों द्वारा संसार पर विजय प्राप्त करना होगा, इसके लिये और दूसरा रास्ता नहीं है, यही करना होगा, नहीं तो मृत्यु निश्चित है। एक दिन जो जीवन तेजस्वी था, उसे एक बार फिर तेज पूर्ण करके भारतीय विचारों द्वारा संसार को जीतना होगा।

दूसरी ओर हम लोगों को यह भी भूलने से न चलेगा कि
आध्यात्मिक विचारों द्वारा संसार-विजय
धर्म के मूल तत्वों का करने की जो बात कह रहा हूँ, उससे मेरा
प्रचार आवश्यक है लक्ष्य जीवनप्रद तत्वों के प्रचार की
ओर ही है, कई शताब्दियों से हम लोग
जिन कुसंस्कारों के अधीन हो रहे हैं, उस ओर मेरा लक्ष्य नहीं
है। इन कुसंस्कारों को भारत भूमि से नष्ट कर देना पड़ेगा।
जिससे यहाँ पर उनका नामोनिशान न रह जाय। ये जातीय
अवनति के कारण स्वरूप हैं, इनसे मस्तिष्क निष्क्रिय हो जाता
है। हम लोगों को सावधान होना पडेगा जिससे हम लोगों का
मस्तिष्क उच्च और महत्वपूर्ण विचारों के लिये अयोग्य न
हो जाय, उसकी मौलिकता नष्ट न हो जाय, और न वह निस्तेज
ही हो जाय। धर्म के नाम पर सब तरह के छोटे छोटे संस्कारों
से मस्तिष्क विषाक्त न हो जाय इसके लिये भी प्रयत्न करना
होगा। इस देश में हम लोगों के सिर पर न जाने कितनी
विपत्तियाँ मँडराया करती हैं, उनमें से एक ओर तो घोर जड़-
वाद, दूसरी ओर उसके प्रतिक्रियारूप कुसंस्कार, दोनों से ही
बचकर हम लोगों को चलना पड़ेगा। एक तरफ तो पाश्चात्य
ज्ञान की मदिरा को पीकर मतवाले हुए लोग समझते हैं कि वे
सब कुछ जानते हैं। वे लोग प्राचीन काल के ऋषियों और
विद्वानों का मजाक उड़ाते हैं। उनके लिए हिन्दू जाति के सारे
विचार केवल कचड़ा है, हिन्दू दर्शन केवल बच्चों की तुतला

हट है और हिन्दू धर्म वेवकूफों के कुसंस्कारमात्र है। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी शिक्षित व्यक्ति हैं, जो बिलकुल दूसरे सिरे पर हैं, वे समाज में प्रचलित सभी अन्ध-विश्वासों और कुसंस्कारों में दार्शनिकता और आध्यात्मिकता भिड़ाते हैं। उनके लिए प्रत्येक गाँव में जो कुसंस्कार भरे पड़े हैं, वे वेद वाक्य के समान हैं और उनकी राय में उनके पालन से ही जातीय जीवन निर्भर करता है। आप लोगों को इन दोनों विचारों से सावधान रहना होगा।

मैं आप लोगों को घोर नास्तिक देखना पसंद करूँगा। लेकिन कुसंस्कार से भरे मूर्ख देखना न चाहूँगा। क्योंकि नागरिकों में कुछ न कुछ तो जीवन होता है उनके सुधार की तो कुछ आशा है, वे मुर्दे नहीं हैं। लेकिन अगर मस्तिष्क में कुसंस्कार घुस जाता है तो वह बिल्कुल वेकार हो जाता है, दिमाग बिल्कुल फिर जाता है। मृत्यु के कीड़े उसके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। तुम्हें इन दोनों को परित्याग करना होगा। मैं निर्भीक, साहसी लोगों को चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि लोगों मे ताजा खून हो, स्नायुओं मे तेजी हो, पेशियाँ लोहे की तरह सख्त हों। मस्तिष्क को बेकार और कम जोर बनाने वाले भावों की आवश्यकता नहीं है। इन्हें छोड़ दो। सब तरह के गुप्त भावों की ओर दृष्टि डालना छोड़ दो। धर्म में कोई गुप्त भाव नहीं, वेदान्त, वेद या पुराणों में क्या

ऋषि, गुप्त तत्व और गुप्त-समिति

कोई गुप्त भाव है। प्राचीन ऋषियों ने धर्मप्रचार के लिये क्या कहीं पर गुप्त-समिति कायम की थी? उन्होंने अपने आविष्कृत महान् सत्यों को सम्पूर्ण संसार को देने के लिये हाथ की सफ़ाई कौशल आदि का अवलम्बन किया था? क्या इसका कहीं पर उल्लेख पाया जाता है? गुप्त भाव और कुसंस्कार दुर्बलता के चिन्ह हैं वे अवनति और मृत्यु के चिन्ह हैं। इसलिये इनसे सदा सावधान रहो, तेजस्वी बनो और खुद अपने पैरों पर खड़े हो। संसार में बहुत सी विचित्रता भरी है। हम लोगों की प्रकृति की धारणा जहाँ तक है, उसके हिसाब से उसे अति प्रकृतिक कहा जा सकता है, लेकिन उसमें कोई गुप्त नहीं है। धर्म का सत्य, गुप्त है, और वह हिमालय की चोटी पर गुप्त समितियों की एकमात्र सम्पत्ति है, ऐसी बात भारत में कभी प्रचलित नहीं हुई। मैं हिमालय गया था। 'यह तुम्हारे शहर से सैकड़ों मील दूर है। मैं सन्यासी हूँ गत चौदह वर्षों से पैदल ही चारों तरफ़ घूमता फिरता हूँ। मैं आप से सच सच कहता हूँ कि इस तरह की गुप्त-समिति कहीं पर भी नहीं है। इन सब बुरे संस्कारों के पीछे कभी न दौड़ो। तुम्हारे और तुम्हारी सम्पूर्ण जाति के लिये बल्कि घोर नास्तिक होना अच्छा है, क्यों कि नास्तिक होने से कम से कम तुम में तेज तो रहेगा, किन्तु इस तरह कुसंस्कार-पूर्ण होना अवनति और मृत्यु का कारण है। अन्य बातों में अच्छे मस्तिष्क वाले

सभी बातों की व्याख्या करने की चेष्टा न करो।

लोग इन सब कुसंस्कारों को लेकर अपना समय नष्ट करते हैं, यह सारी मनुष्य जाति के लिये अत्यन्त लज्जा की बात है। तुम साहसी बनो, सब बातों की व्याख्या करने की कोशिश न करो। असल बात यह है कि हम लोगों में बहुत से कुसंस्कार भरे हैं, हम लोगों के शरीर में बहुत से दाग हैं, बहुत से फोड़े हैं इनको हटाना पड़ेगा, काट देना होगा। लेकिन इससे हमारा धर्म, हमारी आध्यात्मिकता, अथवा हमारा जातीय जीवन जरा भी नष्ट न होगा। धर्म के मूल तत्व बिलकुल बेदाग रहेंगे और जितना ही ये काले दाग दूर हो जायगे, उतने ही मूल तत्व और भी उज्ज्वल, तेजपूर्ण हो जायगे। इन तत्वों पर खूब गौर करो।

हिंदू धर्म ही एक मात्र सार्वभौमिक धर्म क्यों है?

तुमने सुना होगा कि संसार का प्रत्येक धर्म अपने को सार्वभौम धर्म होने का दावा करता है। पहले तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि सम्भवतः कोई भी धर्म किसी काल में सार्वभौम धर्म के रूप में परिणत नहीं हो सकता, लेकिन यदि किसी धर्म को अगर यह दावा करने का अधिकार हो तो हमारा धर्म ही इसका दावा कर सकता है, दूसरा कोई भी धर्म नहीं कर सकता, क्योंकि अन्यान्य धर्म किसी व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्तियों के ऊपर निर्भर करता है। अन्याय सभी धर्म किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन के साथ जड़ित हैं। वे यह समझते हैं कि

ऐतिहासिकता ही उनके धर्म के प्रामाणिक होने का काफी सबूत है। लेकिन वास्तव में जिसे वे लोग अपने पक्ष मे समझते हैं, वही अनेक पक्ष में कमजोरी है, क्योंकि अगर उस व्यक्ति की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं होती तो उसकी धर्मरूपी इमारत ही एक दम नष्ट हो जाती है। इन धर्म-संस्थापकों तथा बड़े बड़े महापुरुषों के जीवन की आधी घटनायें मिथ्या सिद्ध हो चुकी हैं, और बाकी घटना मे विशेष रूप से सन्देहास्पद हैं। हम लोगों के धर्म मे भी यद्यपि महापुरुषों की काफी संख्या है, लेकिन हम लोगों के धर्म की सत्यता उनकी कही हुई बातों पर निर्भर नहीं करती। 'कृष्ण' 'कृष्ण' के कारण उनका माहात्म्य नहीं है। अगर वह भी इसी तरह के होते तो बुद्ध देव की तरह उनका नाम भी भारत से एक दम लोप हो गया होता।

हिंदू व्यक्ति विशेष के अनुयायी नहीं, धर्म के मूल तत्वों के उपासक हैं

अस्तु। हम लोग सदा से ही किसी व्यक्ति विशेष के अनुयायी नहीं हैं, हम लोग धर्म के तत्वों के उपासक हैं। व्यक्तियों उन तत्वों की साकार मूर्ति हैं, उदाहरण स्वरूप हैं। यदि ये तत्व-समूह अविकृत बने रहेंगे, तो सैकड़ों महापुरुष, सैकड़ों बुद्ध देव का अभ्युदय होगा। लेकिन यदि ये तत्व-समूह लोप हो जायगे, यदि इन्हें भुला दिया जाय और सारा जातीय जीवन किसी ऐतिहासिक पुरुष का अनुयायी होकर चलने लगे तो उस धर्म की अवनति अनिवार्य

है, उस धर्म पर विपत्ति का आना आवश्यक है। लेकिन हम लोगों का धर्म किसी व्यक्ति विशेष वा व्यक्ति-समूह के जीवन के साथ अविच्छिन्न भाव से जड़ित नहीं है, वह तत्व-समूहों के ऊपर प्रतिष्ठित है। दूसरी तरफ उसमें हजारों लाखों अवतारों, महापुरुषों का स्थान हो सकता है। नये अवतार या नये महापुरुष का भी हम लोगों के धर्म में स्थान हो सकता है, लेकिन उनमें से प्रत्येक उन तत्वों का जीवन उदाहरण हो सकता है। यह भूलने से न चलेगा। हम लोगों के धर्म के ये तत्व अविकृत रहे हैं और उन पर काल पाकर मलिनता और धूल न चढने पावे, इसके लिये हम लोगों को जीवन भर प्रयत्न करना पड़ेगा। आश्चर्य की बात है कि हम लोगों की घोर जातीय अवनति होने पर भी वेदान्त के ये तत्व कभी मलिन नहीं हुए। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति भी उन्हें दूषित करने का साहस नहीं करता। हम लोगों के शास्त्र संसार में अन्यान्य शास्त्रों के साथ तुलना करने पर यह कहना पड़ता है कि उनमें प्रक्षिप्त अंश, मूल में गड़बड़ी अथवा भावों में उलट फेर नहीं है। पहले जैसे थे, ठीक वैसे ही अब भी हैं और जीवात्मा को उसी आदर्श की ओर परिचालित करते हैं।

भिन्न भिन्न भाष्यकारों ने उनका भाष्य किया है, अनेकों महान् अचार्यों ने उनका प्रचार किया है और तुम्हें यह भी दिखलाई पड़ेगा कि वेदों में ऐसे बहुत से तत्व
भाष्यकारों में वेदों की हैं, जो ऊपरी तौर पर विरोधी हैं। कितने

व्याख्या में मतभेद — एक श्लोक बिल्कुल द्वैतवादात्मक, और कुछ बिल्कुल अद्वैतभाव के द्योतक मिलेंगे। द्वैतवादी भाष्यकार द्वैतवाद को छोड़कर और कुछ नहीं समझते। इसलिये वे अद्वैतवाद के समर्थक श्लोकों को एक दम दबा देना चाहते हैं। अद्वैतवादी भाष्यकार भी द्वैतवादी श्लोकों का ऐसी व्याख्या करते हैं जिससे वे अद्वैतवाद के पक्ष में जान पड़ते हैं। किन्तु इनमें वेदों का दोष नहीं है। सम्पूर्ण वेद ही द्वैतवाद की शिक्षा देते हैं, यह सिद्ध करने का प्रयत्न करना मूर्खता है। वैसे ही वे अद्वैतवाद के समर्थक हैं, यह कहना भी भूल है। वेदों में द्वैतवाद अद्वैतवाद दोनों ही हैं। हमलोग आज कल नये नये भावों के आलोक से इसे अच्छी तरह से समझ रहे हैं। इन सभी भिन्न भिन्न सिद्धान्तों और धारणाओं द्वारा अन्त में इसी अन्तिम सिद्धान्त पर मनुष्य पहुँचता है कि ये सभी बातें मनुष्य के मन के क्रमिक विकास के लिये आवश्यक हैं और इसी से वेदों ने इसके लिये उपदेश दिया है। सारी मनुष्य जाति पर दया का भाव रखते हुए वेदों ने उच्च से उच्च लक्ष्य तक पहुँचने के भिन्न भिन्न सोपानों को दिखलाया है। वे परस्पर विरोधी हैं, सो बात नहीं। वेदों ने बच्चों की तरह भोले भाले लोगों को मुग्ध करने के लिये उन वाक्यों का प्रयोग नहीं किया है।

किन्तु इसकी आवश्यकता है, केवल बालकों के लिये ही नहीं बल्कि बहुत बड़ी उम्र के लोगों के लिये देह बुद्धि रहने की दशा भी। जितने दिन तक हमारा शरीर है,

में सगुण ईश्वर को स्वीकार करना होगा

जितने दिन तक इस शरीर को आत्मा कह कर भ्रम में मनुष्य पड़ा रहता है, जब तक हम लोग पाँचों इन्द्रियों से बद्ध हैं, जब तक हम लोग इस स्थूल जगत को देखते हैं, उतने दिन तक हम लोगों को व्यक्ति विशेष ईश्वर वा सगुण ईश्वर को स्वीकार करना होगा। क्यों कि महात्मा रामानुजाचार्य ने प्रमाणित किया है कि ईश्वर, जीव और जगत इन तीनों में से किसी एक को भी स्वीकार करने पर और दोनों को भी स्वीकार करना होगा। इसलिये जितने दिन तक हम लोग बाह्य जगत को देखते हैं, उतने दिन तक जीवात्मा और ईश्वर को अस्वीकार करना बिल्कुल वितंडावाद मात्र है।

देहादि भावों का लोप होना ही अद्वैतानुभूति है

तौ भी महापुरुषों के जीवन में कभी कभी ऐसे भी समय आते हैं जब कि जीवात्मा अपने समस्त बन्धनों को काट देता है, प्रकृति से उस पार चला जाता है और उस सर्वातीत प्रदेश को जाता है जिसके संबंध में श्रुति ने कहा है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।' तै० २। ९

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मन।' केन १। १। ३

'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।' ऐ० १। २। २

'मन के साथ वाक्य जिसको न पाकर वापस आता है।'
'वहां पर नेत्र की पहुँच नहीं है, न वहाँ पर वाणी जा सकती है,

न मन।' मैं उसे जानता हूँ, यह नहीं समझता, उसे जानता नहीं यह भी नहीं समझता।'

तब जीवात्मा सारे बन्धनों से मुक्त हो जाता है, उसी समय उसके हृदय में अद्वैतवाद का मूल तत्व—मैं और सम्पूर्ण जगत एक है, मैं और ब्रह्म एक है—उदय होता है।

प्रेमबल से भी अद्वैतानुभूति सम्भव है

और यह सिद्धान्त शुद्ध ज्ञान और दर्शन द्वारा ही प्राप्त हुआ है, सो बात नहीं, हम प्रेम बल से भी उसका बहुत कुछ आभास पा सकते हैं। तुमने भागवत मे पढा ही है कि गोपियों के बीच में जब कृष्ण भगवान् अन्तर्ध्यान हो गये तो उसके विरह मे विलाप करते करते उनकी भावना उनके मन में इतनी प्रबल हो उठी कि उनमें से प्रत्येक अपनी देह को भूल गई, वे अपने ही को श्रीकृष्ण समझ कर उन्हीं की तरह वेश भूषा से सज्जित होकर उनके लीला के अनुकरण में प्रवृत्त हुई। इस प्रकार यह अच्छी तरह से ज्ञात होता है कि प्रेमबल से भी एकत्व की अनुभूति होती है। फारस के एक पुराने सूफी कवि की कविता का भाव यह है, "मैं अपने प्रेमी के पास गया, जाकर देखा कि उसका दरवाजा बन्द है, मैंने दरवाजे पर खटखटाया, भीतर से आवाज आई, "कौन है ?" मैंने उत्तर दिया, "मैं हूँ।" पर दरवाजा न खुला। मैं दुबारा आया, दरवाजे पर धक्का दिया। उसी आवाज ने फिर पूछा, "कौन है ?" मैंने जवाब दिया, "मैं अमुक हूँ।" तौ भी

दरवाजा नहीं खुला, तीसरी बार आया, "उसी स्वर ने फिर पूछा, "कौन है ?" तब मैंने उत्तर दिया, "हे प्रियतम, मैं ही तुम हो, तुम ही मैं हूँ।" तब दरवाजा खुला।

इसलिये हम लोगों को समझना होगा कि ब्रह्मानुभूति के विभिन्न सोपान हैं, और यद्यपि प्राचीन भाष्यकारों के बीच (जिन्हें हमें श्रद्धा की दृष्टि से देखना उचित है) परस्पर मतभेद है, परन्तु हम लोगों को विवाद करने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि ज्ञान का अन्त नहीं। प्राचीन काल में अथवा वर्तमान समय में कोई भी सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। यदि प्राचीन काल में बड़े बड़े ऋषि महर्षि हो गये हैं तो निश्चय जानो कि आज कल भी बहुत से ऋषि महर्षि हो सकते हैं। यदि प्राचीन काल में व्यास वाल्मीकि, शंकराचार्य हो गये हैं, तो आप में से प्रत्येक व्यास शंकराचार्य क्यों नहीं हो सकता ? हम लोगों को अपने धर्म की एक विशेषता याद रखनी होगी, अन्यान्य शास्त्रों में आप्त पुरुषों के वाक्य ही शास्त्र के प्रमाण स्वरूप कहे गये हैं, किन्तु इस प्रकार के पुरुषों की संख्या उनके मत से एक दो अथवा बहुत थोड़ी सी है। उन्हीं ने सर्वसाधारण में इस सत्य का प्रचार किया है, हम सब लोगों को उनकी बातों को मानना चाहिये। ईसा मसीह में सत्य का प्रकाश हुआ था, हम सब लोगों को यह बात माननी होगी, हम और कुछ अधिक नहीं जानते। लेकिन

भिन्न भिन्न धर्मों में ब्रह्मानुभूति के भिन्न उपाय हैं

हम लोगों का धर्म कहता है, कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के भीतर इस सत्य का आविर्भाव हुआ था, एक दो नहीं, अनेकों के ऊपर इस सत्य का आविर्भाव हुआ था, और भविष्य में भी होगा। इस मन्त्रद्रष्टा का अर्थ है मंत्र अर्थात् तत्वों का साक्षात् करने वाला— शास्त्रों का पढ़ने वाला, पंडित या शब्द का ज्ञाता नहीं।

'नायमात्मा प्रवचेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन'। कठ १।२।२२

'बहुत बोलने, बहुत मेधावी होने अथवा वेदों के पढ़ने से भी आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता।'

वेद स्वय इस को कह रहे हैं। क्या आप किसी दूसरे शास्त्र में ऐसी निर्भीक वाणी सुन सकते हैं कि वेद-पाठ से भी आत्मा नहीं प्राप्त किया जा सकता? हृदय खोलकर चिल्लाकर उसे बुलाना पड़ेगा। तीर्थ या मन्दिर में जाने से, तिलक लगाने अथवा वस्त्र विशेष पहनने से धर्म पालन नहीं होता।

धर्म बाहर नहीं भीतर रहता है

तुम अपने शरीर पर चीता बाघ आदि के चित्र चित्रित कर लो, लेकिन जब तक तुम ईश्वर को प्राप्त नहीं करते, उतने दिन तक व्यर्थ है। अगर हृदय रंग गया तो बाहर के रंगने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। बाहर के रंग, आडम्बर आदि जब तक हमारे धार्मिक जीवन में सहायता करते हैं, तब तक उनकी उपयोगिता है, तब तक वे रहें, कोई हर्ज नहीं। किन्तु वे बहुधा केवल अनुष्ठान मात्र ही होते हैं, तब वे धर्म-जीवन में सहायक नहीं होते, बल्कि विघ्न डालने वाले

होते हैं। लोग इन बाह्य अनुष्ठानों को धर्म का ही स्वरूप समझ लेते हैं। तब मन्दिर जाना या पुरोहित को कुछ देना धर्म जीवन का प्रधान अंग हो जाता है। यह अनिष्टकर है, इसे रोकने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। हमारे शास्त्र बार बार कहते हैं कि धर्म कभी बहिरेन्द्रिय ज्ञान के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। धर्म वही है जिसके पालन से हम लोग उस अक्षर पुरुष का साक्षात्कार कर सकें और ऐसा धर्म सब के लिये है जिन्होंने इस अतीन्द्रिय सत्य का साक्षात्कार किया है, जिन्होंने आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने भगवान को प्रत्यक्ष देखा है, वे ही ऋषि हुए हैं। हजारों वर्ष पहले जिन्होंने इस अवस्था को प्राप्त किया था, वे जैसे ऋषि थे, वैसे ही हजारों वर्षों के बाद प्राप्त करने वाले भी ऋषि हैं। जब तक तुम ऋषि नहीं बनते तब तक तुम्हें धर्म जीवन नहीं प्राप्त हो सकता। तभी तुममें प्रकृत धर्म आरम्भ होगा, अभी तो केवल उसके लिये तैयारी कर रहे हो। तभी तुम्हारे भीतर धर्म का प्रकाश होगा, अभी तो केवल मानसिक व्यायाम और शारीरिक कष्ट भोग भोग रहे हो। इसलिये तुमको स्मरण रखना चाहिये कि हम लोगों का धर्म स्पष्ट भाषा में कहते हैं कि जो कोई भी मुक्ति प्राप्त करना चाहे, उसे ऋषित्व प्राप्त करना होगा, मन्त्रद्रष्टा होना होगा, ईश्वर का दर्शन करना होगा। यही मुक्ति है।

और यदि यही हम लोगों के शास्त्रों का सिद्धान्त है तो जान पड़ता है कि हम लोग खुद सहज ही अपने शास्त्रों को समझ

सकेंगे, स्वयं ही उनका अर्थ समझ सकेंगे। उनमें से जो हम लोगों के काम के होंगे, उन्हें ही ग्रहण कर सकेंगे, खुद बखुद सत्य को समझ सकेंगे। यही करना पड़ेगा फिर हम लोगों को प्राचीन ऋषियों के प्रति जो कुछ वे लोग हम लोगों के लिये कर गये हैं, सम्मान दिखाना होगा। वे लोग महापुरुष थे, किन्तु हम लोग और भी बड़ा होना चाहते हैं। उन्होंने प्राचीन काल में बड़े बड़े बहुत से कार्य किये थे, किन्तु हम लोगों को उनकी अपेक्षा भी बड़े बड़े कार्य करने पड़ेंगे। प्राचीन काल में भारतवर्ष में बड़े बड़े बहुत से ऋषि महर्षि थे, इस समय भी लाखों ऋषि होंगे, अवश्य ही होंगे। तुम लोग जितनी ही जल्दी इस बात पर विश्वास करोगे, उतना ही भारत और संसार के लिए कल्याणकर होगा। तुम लोग जो विश्वास करोगे वही होगा। अगर तुम लोग यह विश्वास करोगे कि हम निडर हैं, तो तुम निडर होगे। अगर तुम लोग अपने को साधु समझोगे तो साधु हो जाओगे। कोई बाधा तुम्हारे रास्ते में खड़ी न होगी। क्योंकि हम लोगों के परस्पर विरोधी सभी सम्प्रदायों के भीतर एक साधारण मत है तो वह यह है कि आत्मा में पहले ही से महिमा तेज और पवित्रता मौजूद है। केवल रामानुज के मत से आत्मा समय समय पर संकुचित होती है और समय समय पर विकास को प्राप्त होती है। शंकराचार्य के मत से यह

तुम्हारे हृदय में सब भाव हैं, केवल उन्हें प्रकट भर करना है

सकोच और विकाश भय मात्र है। यह भेद भले ही हो, परन्तु सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि चाहे व्यक्त हो, अथव अव्यक्त हो, चाहे जो भी रूप हो, यह शक्ति मौजूद है। जितना जल्द तुम इस पर विश्वास कर सको, उतना ही अच्छा। सब शक्ति तुम्हारे भीतर है। तुम सब कुछ कर सकते हो। इस पर भी विश्वास करो। यह कभी विश्वास न करो कि तुम दुर्बल हो। आज कल हम लोग जिस प्रकार अपने को आधा पागल समझ लेते हैं, ऐसा कभी न समझो। तुम दूसरे की सहायता के बिना सब कुछ कर सकते हो। तुम्हारे भीतर सभी शक्तियां हैं, उठ कर खड़े हो, और तुम्हारे भीतर जो शक्ति छिपी हुई है, उसे प्रकट करो।

"इन्दु" स्मृति-माला का ग्यारहवाँ पुष्प

भक्ति-योग

(विवेकानन्द-ग्रन्थावली संख्या ४)

लेखक

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक-द्वय

प० रूपनारायण पाण्डेय सम्पादक 'माधुरी'

श्री आदित्य शर्मा एम० ए० एल० एल० बी०

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक-भण्डार

आर्यनगर, लखनऊ

प्रथमावृत्ति २००० } मार्च सन् १९३८ ई० { मूल्य ।।।)

प्रकाशक
श्री रामविलास पाण्डेय
अध्यक्ष—सरस्वती पुस्तक-भंडा
आर्यनगर, लखनऊ

मुद्रक
प० मन्नालाल तिवारी
ला प्रिंटिंग प्रेस, नजीराबाद
लखनऊ

दो शब्द

स्वामी विवेकानन्दजी महाराज श्रीराम कृष्ण परमहंसजी के पट्ट शिष्य थे। वह सर्वतोमुखी प्रतिभा रखते थे। अमेरिका तक जाकर उन्होंने हिन्दू-धर्म, वेदान्त का झंडा फहराया था। उनकी पुस्तकों का बंगाल और भारत में ही नहीं, संसार में सर्वत्र सम्मान है। हिंदी के पाठकों के लाभ के लिए पं० रामविलास पाण्डेय अध्यक्ष सरस्वती पुस्तक-भंडार ने यह भक्ति-योग हिंदी मे प्रकाशित कर वास्तव मे हिंदी जगत् का बड़ा उपकार किया है। हमें आशा है, इस पुस्तक की यथेष्ट बिक्री होगी। यह पुस्तक-रत्न कम से कम प्रत्येक हिंदू गृहस्थ के घर में रहनी चाहिए।

लखनऊ
१८।३।३८

रूपनारायण पाण्डेय

विषय-सूची

विषय-सूची

भक्ति-योग

स्वामी विवेकानन्द

भक्ति-योग

भक्ति के लक्षण

निष्कपट रूप से ईश्वरानुसन्धान ही भक्ति-योग है। प्रेम ही इसका आदि, मध्य और अवसान है। भगवद्-भक्ति में एक मुहूर्त्त उन्मत्त रहना शाश्वत मुक्तिप्रद होता है। नारद अपने भक्तिसूत्र मे कहते हैं कि "भगवान का परम प्रेम ही भक्ति है। जीव इसका लाभ करके समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम-वान् और घृणा शून्य होजाता है एव अनन्त काल पर्यन्त तुष्टिलाभ करता है। इस प्रेम के द्वारा कोई काम्य सासारिक वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि विषय वासना रहते हुये इस प्रेम का उदय ही नहीं होता है। भक्ति कर्म, ज्ञान, और योग से भी श्रेष्ठतर है। क्योंकि साध्य विशेष ही उनका लक्ष्य है, किन्तु "भक्ति स्वय साध्य एवं साधन रूप है।" *

---

* ॐ सा कर्मे परमप्रेमरूपा।

(नारद सूत्र—१ म अनुवाक—२ सूत्र)

हमारे देश के समस्त महापुरुषों ने भक्ति का सतत मुख्य रूप से विवेचन किया है। शाण्डिल्य नारदादि भक्ति तत्व के मुख्य व्याख्यातागणों के अतिरिक्त ज्ञान मार्ग समर्थक व्याससूत्र (वेदान्त) भाष्यकार महा पण्डितगणों ने भी भक्ति के सम्बन्ध में अनेक स्पष्ट संकेत किये हैं। समस्त सूत्रों का नहीं तो अधिकांश सूत्रों का भाष्यकारों का शुष्क ज्ञान परक अर्थ करने का आग्रह होने पर भी सूत्रों और विशेषत उपासना विषयक सूत्रों के अर्थ का निरपक्ष भाव से अनुसन्धान करने पर सहज ही उनकी यथेच्छा व्याख्या करने की शक्ति चल नहीं सकती है। (अर्थात् हठात् भक्ति पदक सूत्रों का अर्थ क्लिष्ट कल्पना के आधार पर ज्ञान परक नहीं किया जा सकता है।)

वस्तुत ज्ञान और भक्ति म इतना भेद नहीं है, जैसी कि प्राय लोगों की कल्पना है। आगे हमको प्रतीत हो जायगा कि ज्ञान और भक्ति दोनों अन्त में किस प्रकार एक ही लक्ष्य की ओर समन्वित रूप में पर्यवसित होते हैं। राजयोग का लक्ष्य भी वही है। अव्यवस्थितजनों को धोखा देने का उद्देश्य न हो (केवल

ॐ सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।
(नारद सूत्र—२ अनुवाक—१ सूत्र)

ॐ सा तु कर्मज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा।
(नारद सूत्र—४ अनुवाक—२५ सूत्र)

ॐ स्वय फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः।
(नारद सूत्र—४ अनुवाक—३० सूत्र)

कि दुर्भाग्य से ठगों और ऐन्द्रजालिकों के द्वारा इसका प्रयोग होता है) किन्तु मुक्ति लाभ का एक साधनमात्र समझ कर इसका अनुष्ठान किया जाय तो यह भी उसी एक लक्ष्य को प्राप्त करा देता है।

भक्ति की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह हमारे परम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति के निमित्त अत्यन्त सहज और स्वाभाविक मार्ग है, किन्तु इसकी बड़ी असुविधा यह है कि अपने निम्न तलों में प्राय यह भयानक कट्टरता का स्वरूप धारण कर लेती है। हिन्दू, मुसलमान अथवा ईसाइयों का कट्टर दल इस निम्नस्तलवर्ती साधकों में से ही प्राय अनेक समयों में प्राप्त किया जाता रहा है। जिस इष्ट निष्ठा के बिना स्वाभाविक प्रेम का होना ही असम्भव है, वही अनेक अवसरों पर परमत के प्रति तीव्र आक्रमण और दोषारोपण का कारण होती है। प्रत्येक धर्म अथवा देश में दुर्बल और अविकासित मस्तिष्क वालों के लिये अपने आदर्श के प्रति भक्ति प्रदर्शन करने का एक ही साधन होता है अर्थात् अन्य समस्त आदर्शों को घृणा की दृष्टि से देखना।

यही कारण है कि अपने ईश्वर तथा धर्म के आदर्शों में अनुरक्त व्यक्ति किसी दूसरे आदर्शों को देखते या सुनते ही कट्टर विरोध करने लगते हैं। यह प्रेम अथवा भक्ति वैसी ही है, जैसी कि एक कुत्ते में अपने मालिक की सम्पत्ति पर हस्तक्षेप निवारण करने की होती है। हाँ—अन्तर इतना अवश्य है कि कुत्ते की यह सहज प्रवृति मनुष्य की बुद्धि से श्रेष्ठतर है, क्योंकि कुत्ते को

अपने मालिक का भ्रम कभी नहीं होता, चाहे वह अपने शत्रु का ही भेष धारण करके कुत्ते के सामने आवे। पर कट्टर-पन्थियों की विचार शक्ति का सर्वनाश हो जाता है। इनकी दृष्टि सदैव ही व्यक्तिगत विषयों पर इतनी अधिक लगी रहती है कि दूसरा क्या कहता है, वह सत्य है अथवा असत्य इत्यादि बातों से इन्हें कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु कहने वाले ही पर उनकी विशेष दृष्टि रहती है। यह लोग अपने सम्प्रदायवालों को, अपने मतावलम्बियों को ही प्रेम करते हैं तथा दया और भलाई करते हैं, परन्तु दूसरे मतावलम्बियों के प्रति इन्हें नीचातिनीच कार्य करने में तनिक भी सकोच नहीं होता।

पर यह आशका केवल निम्नस्तल भक्ति में ही है, जिसे 'प्रारम्भिक' अथवा 'गौणी भक्ति' कहते हैं। यही भक्ति जब परिपक्व होकर 'परा-भक्ति' में परिणत होती है तो भयावह कट्टरपन्थी की कोई आशका नहीं रहती। इस 'परा-भक्ति' से अभिभूत व्यक्ति प्रेमस्वरूप भगवान के इतना निकट पहुँच जाता है कि वह घृणाभाव को विस्तृत करने का यन्त्र नहीं बना रहता।

इस जीवन में सबको सामञ्जस्य के साथ चरित्र-सगठन का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, पर हम जानते हैं कि जिसके चरित्र में ज्ञान, भक्ति और योग सम भाव से विराजमान हों, अपेक्षाकृत उसी का चरित्र सर्वश्रेष्ठ होता है। पक्षी को उड़ने के लिये तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं, दो पक्ष और एक सचालित पुच्छ। ज्ञान और भक्ति इसी प्रकार के दो पक्ष हैं और इनका सामञ्जस्य रखने

के लिये पुच्छ-स्वरूप योग है। जो लोग इन तीनों साधन प्रणालियों का एक साथ अनुष्ठान नहीं कर सकते और एकमात्र भक्ति-पथ का अवलम्बन करते हैं, उन्हें यह सदैव स्मरण रहे कि वाह्य-अनुष्ठान और क्रिया-कलाप (यद्यपि प्रथम अवस्था के साधकों के लिये अत्यन्तावश्यक है) की उपयोगिता ईश्वर के प्रति प्रगाढ़-प्रेम उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के उपदेशकों में कुछ सामान्य मतभेद है, यद्यपि दोनों ही भक्ति के प्रभाव को स्वीकृत करते हैं। ज्ञानी भक्ति को मुक्ति का उपाय मात्र मानते हैं, परन्तु भक्तगणों को इसमें उपाय तथा उद्देश्य दोनों ही सम्मिलित मिलते हैं। हमारी समझ में यह अन्तर नाममात्र ही को है। प्रकृत पक्ष में, भक्ति को केवल साधन स्वरूप मानने से वह निम्नस्तल की उपासना ही हो जाती है और यही निम्नस्तल की उपासना आगे चलकर उच्चस्तल भक्ति में अभेद भाव से परिणत होती है। सभी लोग अपनी-अपनी साधना प्रणाली की तारीफ़ करते हैं। पर वे नहीं जानते कि पूर्ण भक्ति से अयाचित भी ज्ञान प्राप्ति होती है तथा पूर्ण ज्ञान में प्रकृत भक्ति अभेद भावेन सम्मिश्रित है।

यह सिद्धान्त समझकर तथा ध्यान धरकर आओ देखें कि इस विषय में बड़े-बड़े वेदान्त भाष्यकारों ने क्या कहा है? भगवान शङ्कराचार्य ने "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि "लोग कहते हैं—अमुक व्यक्ति गुरु-भक्त है, अमुक व्यक्ति राज-भक्त है।" यह उन्हीं के लिये कहा जाता

है, जो गुरु या राजा के आदेशानुवर्ती हैं तथा जो लोग उनके आदेशानुवर्तन को ही लक्ष्य करके कार्य करते हैं। इसी प्रकार लोग कहते हैं कि 'पतिप्राणा स्त्री प्रवासी पति का ध्यान करती है तो यहाँ भी एकरूप, साग्रह और अविच्छिन्न ध्यान ही लक्षित किया गया है।' भगवान् शंकर के मतानुसार यही भक्ति है। ❀

और भगवान रामानुज "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं —

"जिस प्रकार एक बर्तन से निक्षिप्त तैल दूसरे बर्तन में अविच्छिन्न धार से प्रवाहित होता है, उसी प्रकार ध्येय का निरंतर स्मरण का नाम ध्यान है। जब इस प्रकार का भगवत-ध्यान प्राप्त हो जाता है तो सब बन्धन मुक्त हो जाते हैं। शास्त्र इस निरंतर स्मरण को मुक्ति का कारण बतलाते हैं। इस स्मृति अथवा संस्मरण और दर्शन में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि जो सुदूरवर्ती तथा अत्यन्त सन्निहित उस परम पुरुष को देख लेता है, उसकी सारी हृदय-ग्रंथियाँ टूट जाती हैं, सब संशय विनष्ट हो जाते हैं तथा सर्व कर्मक्षय हो जाता है। इस शास्त्रोक्त वाक्य में 'स्मृति'

❀ तथा हि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्ते इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीनानुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सैयमभिधीयते।

ब्रह्म सूत्र (१ पाद १ सूत्र शंकर भाष्य)

'दर्शन' के समानार्थक व्यवहार किया गया है। क्योंकि जो निकट है वह देखा जा सकता है, किन्तु दूरवर्ती वस्तु का केवल स्मरण हो सकता है। तथापि शास्त्र हमें निकटस्थ तथा दूरस्थ दोनों को देखने को कहता है। इस प्रकार स्मरण तथा दर्शन दोनों समकार्यकर और समभाव हैं। यही स्मृति प्रगाढ़ होने पर दर्शन ही के समान हो जाती है। शास्त्रों के प्रधान-प्रधान श्लोकों से यह स्पष्ट है कि सर्वदा-स्मरण ही उपासना है। ज्ञान—जो निरंतर उपासना से अभिन्न है—निरंतर-स्मरण ही कहा गया है। इसीलिये जब स्मृति प्रत्यक्षानुभूति का आकार धारण करती है, तो शास्त्र उसे मुक्ति का कारण कहता है। यह 'आत्मन्' नाना प्रकार की विद्याओं द्वारा, बुद्धि द्वारा किंवा अनवरत वेदाध्ययन द्वारा नहीं प्राप्त होती। जिसको यह आत्मा स्वयम् वरती है, वही इसे प्राप्त करते हैं और उन्हीं को यह आत्मा अपना स्वरूप प्रकाशित करती है। यहाँ पहले तो यह कहा गया है कि यह आत्मा श्रवण, मनन तथा अधिक अध्ययन द्वारा भी नहीं प्राप्त होता और फिर कहते हैं कि आत्मा जिसको स्वयम् वरती है, उसे ही वह प्राप्त होती है। अत्यन्त प्रिय को ही वरा जाता है। जो आत्मा से अतिशय प्रेम करते हैं, आत्मा उन्हीं को अत्यन्त प्रेम करती है। और इस प्रिय व्यक्ति को आत्मा प्राप्त करने में स्वयं भगवान सहायता करते हैं। भगवान ने स्वयं कहा है "जो मुझमें निरंतर आसक्त है और प्रेम से मेरी उपासना करता है, मैं उसकी बुद्धि और भावनाओं को ऐसा सचालित करता हूँ कि वह मुझे

पा लेता है"* इसीलिये कहते हैं कि जिनको यह अनुभावात्मक स्मृति प्रत्यक्ष में अतिप्रिय लगती है (जिन्हें यह स्मृति विषयो-

---

* ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति सन्तानरूपा ध्रुवा स्मृतिः स्मृत्युपलम्भे सर्वग्रन्थीनाम् विप्रमोक्षः इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्व श्रवणात्। सा च स्मृतिदर्शनसमानाकारा। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वे संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।' इत्यानेकानेकार्थात् एवं च सति 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनरूपता विधीयते। भवति च स्मृतेर्भावना प्रकर्षाद्दर्शन रूपता। वाक्यकारेणैतत सर्वं प्रपञ्चितम्। 'वेदनमुपासनम् स्यात् तद्विषये श्रवणादिति'। सर्वासुपनिषत्सु मोक्षसाधनतया विहित 'वेदनुपासन' इत्युक्त 'सकृत प्रत्यय' कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत् इति पूर्वपक्ष कृत्वा 'सिद्ध तूपासन शब्दात्' इति वेदनमसकृदावृत्त मोक्ष साधनमिति निर्णीतम्। 'उपासन स्यात् ध्रुवानुस्मृतिदर्शनान्निर्वचनाच्चेति' तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवास्मृतित्वमुपवर्णितम्। सेयं स्मृति दर्शन रूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः। एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूता स्मृतिम् विशिनष्टि नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुम् स्वाम् इति अनेन केवल श्रवणमनननिदिध्यासनामात्मप्राप्त्यनुपायतामुक्त्वा 'यमेवैष आत्मा वृणुते तेनैव लभ्य' इत्युक्तम्। प्रियतम एव हि वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशय प्रिय स एवास्य प्रियतमो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान प्रयतत इति भगवतैवोक्त। तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वक। ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति इति प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय इति च। अत साक्षात्काररूपा स्मृतिः, स्मर्यमाणात्यर्थं प्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थं प्रिया यस्य स एव परमात्मना

भूत परम पुरुष अत्यन्त प्रिय है) परमात्मा उसी को वरण करता है—उसी को वह परम पुरुष प्राप्त होता है। भक्ति शब्द द्वारा यही निरन्तर स्मरण लक्षित किया गया है।

पतञ्जलि के "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीभोजराज कहते हैं कि "प्रणिधान उस भक्ति को कहते हैं जिसमें फलाकांक्षा (इन्द्रियों के भोगादि) न हों तथा सर्व कर्म उस परम गुरु को समर्पित हो।" ॐ और भगवान व्यास ने इसकी व्याख्या की है कि "प्रणिधान उस भक्ति विशेष को कहते हैं, जिसके द्वारा योगी उस परम पुरुष की कृपा को प्राप्त करता है और अपनी सारी वासनाओं को सन्तुष्ट करता है।" + शाण्डिल्य के मतानुसार "ईश्वर में परमानुरक्ति ही भक्ति है।" — किन्तु भक्तराज प्रह्लाद ने जो भक्ति की संज्ञा की है, वह सर्वापेक्षा

वरणीयो भवतीति तनेव लभ्यते परमात्मेत्युक्तम् भवति, एव रूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते। —

(भक्ति सूत्र १म सूत्र पर रामानुजीय भाष्य)

ॐ प्रणिधान तत्र भक्ति विशेषोविशिष्टमूपासन सर्वक्रियाणामपि समर्पणम्। विषयसुखादिक फलमनिच्छन् सर्वा क्रियास्तस्मिन् परम गुरावर्पयति।

(पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, समाधिपाद)

+ प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुग्रहणात्यभिधान मात्रेण।

(पातञ्जल दर्शन, १ अध्याय, समाधिपाद, व्यासभाष्य,)

— सा परानुरक्तिरीश्वरे—(शाण्डिल्य सूत्र १ म अ० २ सूत्र)

समीचीन है। कहते हैं कि 'अज्ञानी लोग जिस प्रकार इन्द्रिय जन्य विषय वासनाओं पर मुग्ध रहते हैं, हे भगवन्! तुम्हारा स्मरण करते समय तुम्हारे प्रति मेरी यह तीव्र आसक्ति कहीं मेरे हृदय से निकल न जाय।" ❀ आसक्ति ?—किसके लिये आसक्ति ? परम प्रभु ईश्वर के लिये। और किसी के प्रति—चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो—आसक्ति भक्ति नहीं कही जा सकती। प्रमाण स्वरूप भगवान रामानुज ने अपने श्री भाष्य में एक प्राचीन आचार्य की उक्ति उद्धृत की है—"ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र तृण तक—यानी जगतन्तर्गत सब प्राणी—कर्म बन्धनयुक्त जीवन और मृत्यु के वशीभूत हैं। साधक के ध्यान में यह अज्ञान सीमान्तवर्ती तथा परिवर्तनशील होने के कारण सहायक नहीं हो सकते। + शाण्डिल्य के सूत्र में 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए श्री स्वप्नेश्वर ने कहा है कि इसका अर्थ अनु-पश्चात् और रक्ति-आसक्ति अर्थात् 'ईश्वर का स्वरूप और महिमा जानने पर उनमें जो आसक्ति आविर्भूत

❀ या प्रीतिरविवेकानाम् विषयेष्वनुपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।
(विष्णु पुराण १ अंश २० अध्याय)

+ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिता
प्राणिनः कर्मजनिता संसार वशवर्तिन
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारका
अविद्यान्तर्गता सर्वे ते हि संसार गोचरा
(शाण्डिल्य सूत्र १ अ० २ सूत्र स्वप्नेश्वर टीका)

होती है।" * नहीं तो किसी की भी अपने स्त्री, पुत्रादि के प्रति अन्य आसक्ति को भक्ति कहते। अतएव यह स्पष्ट सिद्ध है कि साधारण पूजा पाठादि से लेकर ईश्वर में प्रगाढ़ अनुराग तक अध्यात्मिक अनुभूतिजन्य चेष्टा परम्परा का ही नाम भक्ति है।

---

* भगवन्महिमादिज्ञानादनु। पश्चाज्जाय मानत्वादनुरक्तिरित्युत्तम।
(शाण्डिल्य सूत्र, १ अ० ७ सूत्र, स्वप्नेश्वर टीका)

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर कौन है ?—"जिसके द्वारा जगत् का जन्म, स्थिति और लय होता है"। ⊛ वह ईश्वर—"अनन्त, शुद्ध, नित्य मुक्त, सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक, गुरु का भी गुरु" है। + और सब के ऊपर वह ईश्वर "अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूप" है। –

यह सब अवश्य ही सगुण ईश्वर की सज्ञाएँ हैं। तो क्या ईश्वर दो हैं ? ज्ञानियों ने जिसे 'नेति-नेति' कहकर सच्चिदानन्द स्वरूप बतलाया है क्या वह कोई भक्तों के प्रेममय भगवान् से विभिन्न है ? नहीं—वह एक ही सच्चिदानन्द स्वरूप प्रेममय भगवान् हैं—सगुण तथा निर्गुण वे ही दोनों हैं। इसका सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि भक्त के उपास्यदेव सगुण ईश्वर ब्रह्म से विभिन्न नहीं। सब कुछ वही 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म है। यह निर्गुण ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम तथा उपासना के योग्य नहीं है। इसीलिए भक्त ब्रह्म के सगुण-स्वरूप को अर्थात् परम-नियन्ता

⊛ जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्म सूत्र, १म अध्याय १म पाद २ सूत्र)

+ पातञ्जल समाधिपाद २४, २६।

– स ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपः। शाण्डिल्य सूत्र।

पिता को उपास्य रूप में स्थापित करता है। उपमा द्वारा भी समझा जा सकता है—

ब्रह्म मिट्टी अथवा उपादान के समान है, जिससे अनेकों वस्तुएँ बनाई जाती हैं। मिट्टी रूप में तो वे सब एक ही वस्तु हैं, किन्तु अपना अपना स्वरूप तथा प्रकाश इन सब वस्तुओं को पृथक्-पृथक् कर देता है। उत्पत्ति के पहले ये सब एक स्वरूप मिट्टी थीं और उपादान के हिसाब से भी ये एक ही हैं, किन्तु ज्योंही इन्होंने विशेष विशेष रूप धारण करना प्रारम्भ किया और जबतक उनका यह स्वरूप रहा उतने दिन वे अलग अलग हैं। मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी का हाथी नहीं हो सकता, क्योंकि गठितावस्था में इनकी विशेष आकृति ही इनके विशेषत्व का ज्ञापक है। हाँ! विशेष आकृति विहीन मिट्टी में ये सब अवश्य एक ही हैं। ईश्वर उसी पूर्ण सत्य-स्वरूप की उच्चतम अभिव्यक्ति है अथवा मनुष्य मन द्वारा सर्वोच्च उपलब्धि है। सृष्टि अनादि है—और ईश्वर भी अनादि।

वेदान्त-सूत्र के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में मुक्ति लाभ के बाद मुक्तात्मा को जो अनन्त शक्ति और ज्ञान प्राप्त होता है, उसका वर्णन करते हुए भगवान् व्यासजी एक और सूत्र में कहते हैं, किन्तु कोई भी सृष्टि की स्थिति तथा प्रलय की शक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि यह शक्ति केवल ईश्वर ही की है"। *

* जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

ब्रह्म सूत्र, ४ अध्याय ४ पाद १७ सूत्र)

इस सूत्र की व्याख्या करते समय द्वैतवादी भाष्यकार परतन्त्र जीव को ईश्वर की अनन्त शक्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्तकर पाना असम्भव बतलाते हैं। घोर द्वैतवादी भाष्यकार श्री माधवाचार्य ने वाराह पुराण से उद्धृत एक श्लोक द्वारा इस सूत्र की संक्षिप्त व्याख्या की है।

इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार रामानुज कहते हैं, "संशय होता है कि मुक्तात्मा की शक्ति परम पुरुष की असाधारण शक्ति (अर्थात् सृष्टि, स्थिति तथा विनाश की शक्तियों) में सम्मिलित रहती है अथवा तद्रहित केवल परम पुरुष का साक्षात्कार ही उसका ऐश्वर्य है। युक्ति युक्त तो यह मालूम होता है कि मुक्तात्मा जगत् का नियन्त्रत्व प्राप्त करता है, क्योंकि शुद्ध-स्वरूप होकर वह परम एकत्व लाभ करता है"। इस शास्त्रोक्ति के अनुसार यह स्पष्ट है कि मुक्तात्मा परम पुरुष से एकत्व प्राप्त करता है। अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि मुक्तात्मा की सारी वासनाएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं। अस्तु, परम एकत्व और सारी वासनाओं की तुष्टि बिना परम पुरुष की असाधारण शक्ति के (अर्थात् जगन्नियन्त्रत्व शक्ति के बिना) नहीं हो सकती। अतएव समुदय वासनाओं की परिपूर्णता और परम एकता प्राप्त करने का अर्थ है—समुदय जगत् का नियन्त्रत्व लाभ करना। इसके उत्तर में हमें कहना है कि जगत् नियन्त्रत्व को छोड़कर और सब शक्तियाँ मुक्तात्मा प्राप्त करता है। जगत् नियन्त्रत्व का अर्थ है जगत् के सारे स्थावर तथा जङ्गमों के विभिन्न स्वरूप, स्थिति तथा

वासनाओं का नियन्त्रत्व, किन्तु मुक्तात्माओं मे यह जगन्नियन्त्रण शक्ति नहीं। हॉ—उनकी परमात्म दृष्टि का आवरण हट जाने से उन्हे प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति अवश्य है और यही उनका ऐश्वर्य है। इसका प्रमाण क्या है? केवल शास्त्र वाक्य। शास्त्रों मे कहा गया है कि निखिल जगत् नियन्त्रत्व केवल परब्रह्म ही का गुण है। यथा "जिससे सर्व वस्तुएँ जन्म लेती हैं, जो स्थिति रखता है और जिसमे सर्व वस्तुएँ प्रलयकाल मे समा जाती हैं। उसको जानना चाहते हो तो वह ब्रह्म ही है।" यदि यह जगत् नियन्त्रत्व शक्ति मुक्तात्मा का साधारण गुण होता तो उल्लिखित श्लोकार्थ ब्रह्म का लक्षण कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि नियन्त्रत्व-गुण ही ब्रह्म का लक्षण है। असाधारण लक्षण विशेष द्वारा ही किसी वस्तु की व्याख्या हो सकती है। अतएव निम्नोद्धृत शास्त्र वाक्य परम पुरुष को जगन्नियन्त्रणकर्तारूप व्याख्या करते हैं तथा मुक्तात्माओं की ऐसी व्याख्या कहीं नहीं मिलती, जिससे जगन्नियन्त्रत्व उनका गुण माना जाय। शास्त्र वाक्य है—"वत्स—आदि में एकमेवाद्वतीयम् था। उसने आलोचना की कि मैं बहुतों को सृष्टि करूँगा और उसने तेजस् की सृष्टि की"। "आदि में केवल ब्रह्म ही था—वह परिणत हुआ—क्षत्र रूप उसने सुन्दर स्वरूप सृजन किया—सब देवता गण यथा वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान उसके क्षत्र रूप हैं।" "आदि में केवल आत्मा ही था—और कुछ भी क्रियाशील न था। उसने विचारा "मैं जगत की सृष्टि करूँगा—फिर उसने इस जगत की सृष्टि की।' 'एकमात्र नारायण ही थे।

ब्रह्मा, ईशान, द्यावापृथ्वी, तारा जल, अग्नि, सोम अथवा सूर्य कुछ नहीं था। अकेले वह सुखी न हुए, ध्यान धरने पर उन्हें एक कन्या, दस इन्द्रियाँ इत्यादि जन्मीं'। 'जो पृथ्वी पर रहते हुए भी पृथ्वी से स्वतन्त्र है' से लेकर 'जो आत्मा में वास करता हुआ' इत्यादि।* दूसरे सूत्र की व्याख्या में रामानुज कहते हैं, "यदि कहो कि यह सत्र सत्य नहीं है, क्योंकि वेद में इसके विपरीतार्थ अनेक श्लोक हैं तो हम कहेंगे कि वह निम्नदेव-लोक में मुक्तात्मा के ऐश्वर्यमात्र का वर्णन है।× यह भी एक प्रकार की सहज मीमांसा हुई। यद्यपि रामानुज-मतावलम्बी समष्टि की एकता स्वीकृत करते हैं तथापि इस समष्टि में उनके मतानुसार अनन्त भेद समूह हैं। अतएव रामानुज के लिये सगुन ईश्वर और जीवात्मा की भेद रक्षा द्वैतसिद्धान्त द्वारा कठिन न था।

अद्वैत मत के बड़े-बड़े भाष्यकारों का कथन भी अब हम विचारेंगे। हम देखेंगे कि द्वैतवादियों की आशाओं तथा इच्छाओं को परितृप्त करते हुए अद्वैतवादियों ने ब्रह्मभावापन्न मानव जाति की महोच्च चरमगति का सामञ्जस्य किस सुन्दरता से स्थापित किया है। जो मुक्ति लाभ करके भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा

---

* किं मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्टादि ... न चेतेषु निखिलजगन्नियमनं परम पुरुषं मनुष्येव श्रूयत' इत्यादि।

(ब्रह्म सूत्र ४ अ० ४ पाद २१ सूत्र, रामानुज भाष्य)

× प्रत्यक्षोपदेशान्नेतियेन्नाधिकारिक मण्डलस्थोक्तेः।

(इस सूत्र की ब्रह्म सूत्र में ४। ४ १८ की रामानुजीय भाष्य देखो)

करना चाहते हैं और ईश्वर से स्वतंत्र रहना चाहते हैं, उनके लिये अपनी इच्छापूर्ति तथा सगुणब्रह्म के सम्भोग के लिए यथेष्ट अवसर है। इन्हीं की कथा भागवत पुराण में इस प्रकार वर्णित है, "हे राजन। भगवान की ऐसी गुणराशि है कि सब मुनि-आत्माएँ, जिनके सभी बंधन छूट चुके हैं, भगवान् के प्रति अहेतु की भक्ति कर सकते हैं।" +

सांख्य सिद्धान्त से इन्हीं लोगों का वर्णन प्रकृतिलीन बतलाया गया है। मुक्ति लाभ करके दूसरे कल्प में यही लोग जगत के शासनकर्ता रूप उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनमें से कोई भी ईश्वर तुल्य नहीं हो पाता। जो लोग उस अवस्था को प्राप्त करते हैं जहाँ सृष्टि, सृष्ट, अथवा सृष्टा नहीं, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, अथवा ज्ञान नहीं, जहाँ मैं, तुम और वह नहीं, जहाँ प्रमाता, प्रमेय या प्रमाण कुछ भी नहीं, वहाँ कौन किसे देखता है?' वह सब कुछ से परे है, जहाँ वाक्य अथवा मन कोई नहीं जा सकता, वहाँ आते हैं, जिसे सर्वशक्ति ने भी 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है। किन्तु जिन्हें यह अवस्था प्राप्त करने की रुचि नहीं, वे उसी एक ब्रह्म को प्रकृति, आत्मा और दोनों में अन्तर्यामी ईश्वर इस त्रिधाविभक्त रूप में देखते हैं। जब प्रह्लाद अपने को भूल गया तो उसे जगत तथा उसका कारण कुछ न दिखलाई पड़ा—सब

+ आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाद्प्युरुक्रमे।
कुर्वन्ते हेतुकीम् भक्तिम् इत्थद्भुतगुणोहरि ।
(श्री मद्भागवत १ स्कंध १ अ० १० श्लोक)

कुछ उसे एक अनन्तरूप प्रतीत हुआ। किन्तु ज्योंही उसे ध्यान आया कि मैं प्रह्लाद हूँ, त्योंही उसके सामने ससार और उसका आधार स्वरूप अशेष—कल्याण गुणराशि जगदीश्वर दिखलाई दिया। महाभाग्यशाली गोपियों की भी यही अवस्था हुई। जिस समय वे अहज्ञानशून्य रहतीं तो सब कुछ उन्हें कृष्णरूप दिखलाई पड़ता और जब वे अपने और अपने उपास्यदेव में भेद-भाव की चिन्ता करतीं, त्योंही उन्हें गोपीभाव आ जाता और विरह-व्यथा प्रतीत होती। तभी उनके सम्मुख मृदुहास्य युत, पीताम्बरधारी मालाभूषित साक्षात् मन्मथ का मदमथनकारी कृष्ण आविर्भूत होते थे। ×

अच्छा, अब हम फिर आचार्य शकर की बात पर आते हैं। वे कहते हैं, "जो सगुण ब्रह्मोपासना के बल से परमेश्वर से एकीभूत होगये हैं और जिनका मन अव्याहत है, उनका ईश्वर असीम है अथवा ससीम ?" संशय उठते ही उत्तर मिलता है कि उनका ईश्वर असीम है, क्योंकि शास्त्रों में कहा है "उन्हें स्वराज्य मिल जाता है" "सब देवता उनकी पूजा करते हैं" "सारा जगत उनकी इच्छा पूरक है।" इसके उत्तर में व्यासजी ने कहा है, "जगत की सृष्टि आदि छोड़कर।" मुक्तात्माएँ जगत की सृष्टि, स्थिति, प्रलय को छोड़कर अणिमादि अन्यान्य शक्तियाँ लाभ करते हैं।

× तासामार्विभूच्छौरिः स्मयमान मुखाम्बुज ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथ मन्मथ ।
(श्री मद्भागवत १० स्कन्ध ३२ अ० २ श्लोक)

जगत का नियत्रण तो नित्यसिद्ध ईश्वर के ही हाथ है, क्योंकि सृष्टि सबध में जहाँ कहीं भी शास्त्रोक्ति मिलती है, वह सब ईश्वर के लिये। उन स्थलों पर मुक्तात्माओं का कोई प्रसग ही नहीं मिलता। वही परम पुरुप ही केवल जगन्नियन्त्रत्व करता है। सृष्टि आदि के सम्बन्ध में जितने शास्त्रीय श्लोक मिलते हैं, वे सब ईश्वर को ही लक्षित करते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर को नित्य सिद्ध का विशेपण भी दिया गया है। यह भी कहा गया है कि अणिमादिक शक्तियाँ ईश्वरोपासना और ईश्वरान्वेपण द्वारा प्राप्त होती हैं। अतएव उनकी शक्तियाँ असीम नहीं हैं। साथ ही जगन्नियन्त्रत्व से उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं बतलाया जाता। फिर उनके वशीभूत मन अलग अलग होने से यह सम्भव है कि उनकी इच्छाओं में विभिन्नता हो। यदि एक सृष्टि की इच्छा करता है तो दूसरा विनाश की इच्छा कर सकता है। इस गोलमाल से बचने का एक ही उपाय है कि सब लोगों की इच्छाएँ एक की इच्छा के आधीन हों, इसीलिये यह सिद्धान्त है कि मुक्त गणों की इच्छा उसी परम पुरुप की इच्छा के आधीन है। ※

अतएव यह सिद्ध है कि भक्ति का प्रयोग केवल सगुण ब्रह्म के प्रति हो सकता है। देहाभिमानी पुरुप बड़े कष्ट से अव्यक्त

※ ए मगुण ब्रह्मोपासनात् ... व्यवतिष्ठन्ते।

गति प्राप्त कर सकता है। * भक्ति और हमारी प्रकृति में सामञ्जस्य है। यह सत्य है कि ब्रह्म के मानवीय भाव के अतिरिक्त हम और किसी भाव को नहीं धारण कर पाते, किन्तु क्या यह सभी ज्ञात वस्तुओं के बारे में नहीं कहा जा सकता। संसार के सर्वोच्च मनोविज्ञानवित् भगवान कपिल ने हजारों वर्ष पहले प्रमाणित किया है कि हमारा अन्तर अथवा बहि सब प्रकार का विषय ज्ञान या धारणा के लिये मानवीय ज्ञान एक उपादान है। अपने शरीर से लेकर ईश्वर तक विचार करने पर मालूम होगा कि हमारे अनुभूत सब वस्तुज्ञान में एक और वस्तु का सम्मिश्रण है—वह वस्तु चाहे जो हो, और इसी अवश्यम्भावी संमिश्रण को हम सचराचर सत्य समझते हैं। वास्तव में जहाँ तक सम्भव है, मनुष्य यही सत्य समझ भी सकता है। अतएव जो लोग कहते हैं कि मानवीय भावमय ईश्वर असत्य है, मिथ्या प्रलाप करते हैं। पाश्चात्य विज्ञानवाद (Idealism) और सर्वास्तित्ववाद (Realism) में भी यही झगड़ा है। यह झगड़ा मालूम तो बड़ा भयानक होता है किन्तु, वास्तव में 'सत्य' शब्द के अर्थ ही पर सब झमट है। सत्य शब्द द्वारा जो भाव प्रकट होता है, ईश्वर भाव उस सब में व्याप्त है। जैसे जगत् की अन्यान्य वस्तु सत्य हैं, वैसे ही ईश्वर भी सत्य है और जिस अर्थ में सत्य शब्द ऊपर प्रयुक्त है उसके अतिरिक्त उसका और कुछ अर्थ नहीं, यही हमारी ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक धारणा है।

* अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।
(भगवद्गीता १२ अध्याय ५ श्लोक)

प्रत्यक्षानुभूति धर्म

भक्तों के लिये यह सब शुष्क विषय जानने की आवश्यकता केवल इच्छाशक्ति को दृढ करने के लिये है। इसके अतिरिक्त इनकी कोई उपयोगिता नहीं। क्योंकि वे एक ऐसे पथ के पथिक हैं, जिससे उन्हें तर्क के कुहेलिकामय तथा अशान्तिप्रद राज्यसीमा से परे प्रत्यक्षानुभूति का आनन्दप्रद साम्राज्य मिल जाता है। ईश्वर की कृपा से वे एक ऐसी अवस्था को पहुँचते हैं जहाँ से पाण्डित्याभिमानियों का प्रिय-तर्क बहुत पीछे रह जाता है और बुद्धि की सहायता से अन्धकार में वृथान्वेषण की जगह प्रत्यक्षानुभूति का उज्ज्वल प्रकाश मिलता है। उस समय वे कुछ भी विचार अथवा विश्वास नहीं करते। वह एक रूप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। और वह तर्क नहीं करते, प्रत्यक्ष करते हैं। और क्या यह भगवान को देखना, उनको प्राप्त करना और उनका सम्भोग करना अन्यान्य सारे विषयों से श्रेष्ठ नहीं है? केवल यही नहीं अनेको ऐसे भक्त हैं जो भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठतर वर्णन करते हैं। क्या यह हमारे जीवन का सर्वोच्च प्रयोजन नहीं है? ऐसे भी लोग ससार में हैं (और उनकी सख्या भी अधिक है) जिन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि जो पाशविक सुख प्रदान करे उसीसे वास्तविक प्रयोजन है और उसीकी उपकारिता है। धर्म, ईश्वर, अनन्तता, आत्मा यह सब व्यर्थ हैं। यदि इनके

द्वारा दैहिक सुख अथवा अर्थ की प्राप्ति नहीं। इन लोगों के लिये यदि इन्द्रियसुख या इच्छातृप्ति न हुई तो सब व्यर्थ है। जिस व्यक्ति की जिस विषय में इच्छा प्रबल होती है उसे उसीमें लाभ मालूम होता है। अस्तु जो लोग 'खाओ, पियो, आनन्द करो, मरो' जीवन के ऊपर नहीं उठते उन्हें तो केवल इन्द्रियसुख में ही लाभ जान पड़ता है। उनके हृदयों में उच्चतर विषयों के प्रति सामान्य व्याकुलता भी जन्मने को कोई जन्म चाहिए। किन्तु जिनके सन्मुख ऐहिक जीवन के क्षणिक सुखों की अपेक्षा आत्मोन्नतिसाधन अधिक प्यारा होता है, उनके लिये तो भगवान तथा भगवत प्रेम ही जीवन का सर्वोच्च और एकमात्र प्रयोजन रह जाता है। ईश्वरेच्छा से इस घोर भोगविलास पूर्ण संसार में अब भी ऐसे महात्माओं की कमी नहीं।

पहिले बतलाया गया है कि भक्ति परा और गौणी दो प्रकार की होती है। गौणी प्रथम साधन भक्ति है और परा भक्ति उसीकी परिपक्वावस्था होती है। क्रमशः हम समझेंगे कि भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने में अनेकों बाह्य सहायों की आवश्यकता होती है। वास्तव में संसार के सारे धर्मों के पौराणिक तथा रूपक भाग उन्नतिकारी आत्माओं को प्रथमावस्था में सहायता देते हैं। यह भी विशेष विचारणीय विषय है कि बड़े-बड़े धर्मवीर उन्हीं धर्म-सम्प्रदायों में जन्मे हैं, जिनकी सारी धर्मप्रणाली पौराणिक भावबाहुल्य तथा अनुष्ठान की प्रचुरता से ओत प्रोत है। जो धर्म-प्रणालियाँ शुष्क हैं—जिनमें कुछ भी कवित्व नहीं, कुछ भी

सुन्दरता नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं जो जगत्-पथस्खलित-पद सुकुमार मन को दृढ अवलम्ब बनें—जो प्रणालियाँ धर्म रूपी छत के सुदृढ-स्तम्भों को उखाड फेंकना चाहती हैं और सत्य के सम्बन्ध में अज्ञान तथा भ्रमपूर्ण धारणा करके जो नाश करना चाहते हैं वे सारे उपादान, जो जीवनी शक्ति-सचारक हैं और जो धर्मरूपी लता को बढाते हैं—ऐसी सारी धर्मप्रणालियों का भविष्य शीघ्र ही उन्हें बतला देता है कि अन्त सार-शून्य उनके आधार के लिये केवल एक अनन्त शब्द जाल और तर्काभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हाँ—समाज सुधार शायद हो। जिनकी ऐसी धर्म-प्रणाली है, उनमें से अधिक लोग, जानते हुए अथवा अज्ञानवश, जड़वादी होते हैं। उनके लिये ऐहिक जीवन का लक्ष्य केवल भोग है, जो उनके लिए सर्वस्व है, इष्टापूर्त है। इस अज्ञान और कट्टरता मिश्रित मत के अनुगामियों को उचित है कि वे अपने असली रूप में आकर नास्तिक तथा जड़वादियों का दल बढ़ाएँ। इसीमें ससार का कल्याण है। धर्मानुष्ठान तथा अपरोक्षानुभूति का एक बूँद भी अथाह वाक्य प्रपच सागर से सहस्रों गुना श्रेष्ठतर है। इस अज्ञान और कट्टरता के सूने खेत में हमें एक आदमी—केवल एक आदमी भी तो उगता हुआ दिखाओ। नहीं तो, चुप रहो—हृदय कपाट खोल दो, सत्य के विमल प्रकाश में प्रवेश करो, और जो बिना समझे कुछ नहीं कहते, ऐसे भारतीय साधुओं के पैरों पर बच्चों की तरह बैठकर पढ़ो तो आओ हम सब सुनें, जो इन साधुगणों ने कहा है।

द्वारा ऐहिक सुख अथवा अर्थ की प्राप्ति नहीं। इन लोगों के लिये यदि इन्द्रियसुख या इच्छातृप्ति न हुई तो सब व्यर्थ है। जिस व्यक्ति की जिस विषय मे इच्छा प्रबल होती है उसे उसीम लाभ मालूम होता है। अस्तु जो लोग 'खाओ, पियो, आनन्द करो, मरो' जीवन के ऊपर नहीं उठते उन्हें तो केवल इन्द्रियसुख में ही लाभ जान पडता है। उनके हृदयों में उच्चतर विषयों के प्रति सामान्य व्याकुलता भी जन्मने को कोई जन्म चाहिए। किन्तु जिनके सन्मुख ऐहिक जीवन के क्षणिक सुखों की अपेक्षा आत्मोन्नतिसाधन अधिक प्यारा होता है, उनके लिये तो भगवान तथा भगवत-प्रेम ही जीवन का सर्वोच्च और एकमात्र प्रयोजन रह जाता है। ईश्वरेच्छा से इस घोर भोगविलास पूर्ण ससार में अब भी ऐसे महात्माओं की कमी नहीं।

पहिले बतलाया गया है कि भक्ति परा और गौणी दो प्रकार की होती है। गौणी प्रथम साधन भक्ति है और परा भक्ति उसीकी परिपक्वावस्था होती है। क्रमश: हम समझेंगे कि भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने में अनेकों बाह्य सहायों की आवश्यकता होती है। वास्तव में समार के सारे धर्मों के पौराणिक तथा रूपक भाग उन्नतिकारी आत्माओं को प्रथमावस्था में सहायता देते हैं। यह भी विशेष विचारणीय विषय है कि बडे-बड़े धर्मवीर उन्हीं धर्म-सम्प्रदायों में जन्मे हैं, जिनकी सारी धर्मप्रणाली पौराणिक भावबाहुल्य तथा अनुष्ठान की प्रचुरता से ओत प्रोत है। जो धर्म-प्रणालियाँ शुष्क हैं—जिनमें कुछ भी कवित्व नहीं, कुछ भी

सुन्दरता नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं जो जगत् पथस्खलित पद सुकुमार मन को दृढ अवलम्ब बने—जो प्रणालियाँ धर्म रूपी छत के सुदृढ-स्तम्भों को उखाड फेकना चाहती हैं और सत्य के सबध में अज्ञान तथा भ्रमपूर्ण धारणा करके जो नाश करना चाहते हैं वे सारे उपादान, जो जीवनी शक्ति-सचारक हैं और जो धर्मरूपी लता को बढाते हैं—ऐसी सारी धर्मप्रणालियों को भविष्य शीघ्र ही उन्हें बतला देता है कि अन्त सार-शून्य उनके आधार के लिये केवल एक अनन्त शब्द जाल और तर्काभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हाँ—समाज सुधार शायद हो। जिनकी ऐसी धर्म-प्रणाली है, उनमें से अधिक लोग, जानते हुए अथवा अज्ञानवश, जड़वादी होते हैं। उनके लिये ऐहिक जीवन का लक्ष्य केवल भोग है, जो उनके लिए सर्वस्व है, इष्टापूर्त है। इस अज्ञान और कट्टरता मिश्रित मत के अनुगामियों को उचित है कि वे अपने असली रूप में आकर नास्तिक तथा जड़वादियों का दल बढ़ाएँ। इसीमें ससार का कल्याण है। धर्मानुष्ठान तथा अपरोक्षानुभूति का एक बूँद भी अथाह वाक्य-प्रपच सागर से सहस्रों गुना श्रेष्ठतर है। इस अज्ञान और कट्टरता के सूखे खेत में हमें एक आदमी—केवल एक आदमी भी तो उगता हुआ दिखाओ। नहीं तो, चुप रहो—हृदय कपाट खोल दो, सत्य के विमल प्रकाश में प्रवेश करो, और जो बिना समझे कुछ नहीं कहते, ऐसे भारतीय साधुओं के पैरों पर बच्चों की तरह बैठकर पढ़ो तो आओ हम सब सुनें, जो इन साधुगणों ने कहा है।

गुरु की उपयोगिता

प्रत्येक जीवात्मा पूर्णता प्राप्त करेगा—अन्त में सभी सिद्धि लाभ करेंगे। हम जैसे हैं वह अपने अतीत मन और कर्म का फल है। और इस समय हम जैसा कार्य और मनन करते हैं भविष्य में हम वैसे ही होंगे। किन्तु हमारे भाग्य संगठन में किसी वाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं, ऐसा नहीं है। वरन् अधिकांश स्थलों पर इस प्रकार की सहायता की अत्यंत आवश्यकता है। जिस समय हमें यह सहायता प्राप्त हो जाती है तो हमारी उच्च शक्तियाँ और अव्यक्त भावनाएँ जाग उठती हैं, अध्यात्मिक जीवन अधिक सतेज हो जाता है, उन्नति शीघ्र होती है और अन्त में साधक शुद्धभावमय सिद्ध हो जाता है।

यह सञ्जीवनी शक्ति पुस्तकों मे नहीं प्राप्त होती। आत्मा केवल दूसरे आत्मा से शक्ति प्राप्त कर सकता है और किसी वस्तु से नहीं। आजीवन पुस्तक पाठ करें—चाहे जितना बुद्धिमान हो जायँ—किन्तु अन्त में अध्यात्मिक उन्नति कुछ नहीं होती। यह बिल्कुल निरर्थक है कि बुद्धि के साथ-साथ अध्यात्मिक उन्नति भी होती है। पुस्तक पाठ करते-करते हमे भ्रम हो जाता है कि हमें अध्यात्मिक लाभ होता है। किन्तु यदि हम गम्भीर भाव से

विवेचना करें कि पुस्तक-पाठ से हमें क्या फल होता है तो मालूम हो जायगा कि हमारी बुद्धि तो अधिकाधिक तेज होती जाती है, किन्तु अन्तरात्मा को कोई लाभ नहीं। हम लोगों मे प्राय सभी को अध्यात्मिक वाक्यविन्यास की अद्‌भुत निपुणता प्राप्त है किन्तु कार्य करते समय—प्रकृति धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने में—हम में कितनी कमी है—स्पष्ट ही है। इसका कारण यही है कि पुस्तकों का ढेर अध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिये पर्याप्त नहीं। जीवात्मा की शक्ति जागृत करने के लिये किसी दूसरी आत्मा द्वारा शक्ति-सचार आवश्यक है।

जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरे की आत्मा को शक्ति मिले उसे 'गुरु' कहते हैं और जिसकी आत्मा मे शक्ति सञ्चारित होती है, उसे 'शिष्य'। इस प्रकार की शक्ति सञ्चारित करने में जो सञ्चार करता है, उसमें शक्ति-सञ्चारण शक्ति का होना आवश्यक है। बीज को शक्तिशाली होने की आवश्यकता है तो खेत भी खूब बना होना चाहिए। जहाँ यह दोनों विद्यमान हैं, वहीं प्रकृति धर्म का अपूर्व विकास होता है।

"धर्म का उपदेशक आश्चर्यजनक शक्तिमान होना चाहिए और श्रोता को भी निपुण होने की आवश्यकता है" *। और जब दोनों वास्तव में आश्चर्यजनक और असाधारण होते हैं, तभी तो आश्चर्यजनक अध्यात्मिक उन्नति होती है, नहीं तो नहीं। इसी

---

* आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्ध्वा इत्यादि।
(कठोपनिषत् १ म अध्याय २ वल्ली १ श्लोक)

प्रकार का व्यक्ति प्रकृति 'गुरु' कहलाता है और ऐसा चेला ही प्रकृति शिष्य या मुमुक्षु होता है। और सब तो धर्म के नाम के खेलवाड़ करते हैं। उन्हें थोड़ा कौतूहल—कुछ जानने की इच्छा मात्र होती है और यह सदा धर्मचक्र के बाहर ही रहते हैं। यह अवश्य है कि यह भी मूल्यहीन नहीं है, क्योंकि कभी-कभी इसी से धर्म पिपासा जग उठती है और प्रकृति का यह कुछ विचित्र नियम है कि ज्यों ही खेत तैयार हो जाता है, तो उसे बीज कहीं न कहीं से अवश्य मिलता है। जभी आत्मा की धर्म-पिपासा प्रबल हो उठती है, तभी धर्म-शक्ति-सञ्चारक पुरुष उस आत्मा की सहायता के लिये अवश्य आता है। जब ग्रहण करनेवाले की आत्मा धर्म के आलोक को आकर्षित करने में पूर्ण और प्रबल हो जाती है तो उसके पास उसी आकर्षण से आलोकदायिनी शक्ति अवश्य आती है।

पर इस पथ में कई महाविघ्न भी हैं। जैसे, क्षणस्थायी भावोच्छ्वास को आत्मा भ्रम से धर्म पिपासा समझ सकता है। हमें अपने जीवन में ही इसका प्रमाण मिलता है। हमारे जीवन में अनेकों अवसर आते हैं—जैसे अपने प्रियतम की मृत्यु होना—जब हमें घोर आघात होता है, मालूम होता है कि हम जिस पर हाथ धरते हैं, वही फिसलता-सा है। ऐसे समय कुछ अधिक दृढ़ तथा उच्च आश्रय की आवश्यकता है—हमें अवश्य धार्मिक होना चाहिए आदि। कुछ ही दिनों बाद यह भाव तरङ्गावली विलुप्त हो जाती है और हम जहाँ थे, वहीं फिर रह जाते हैं। हम सभी

ऐसे भावोच्छ्वासों को धर्म पिपासा समझते हैं। किन्तु जब तक हम इन क्षणिक भावोच्छ्वासों को भ्रमवश प्रकृति धर्म पिपासा समझेंगे, तब तक धर्म के लिये यथार्थ में स्थायी प्राण पिपासा नहीं जागृत हो सकती और तभी तक शक्ति सञ्चारकारी गुरु के दर्शन भी नहीं मिल सकते। इसलिये जभी आपको यह मालूम पडे कि सत्य प्राप्ति की आपकी चेष्टाएँ असफल हो रही हैं तो आपको अपना अन्तस्तल टटोलकर देखना चाहिए कि हृदय मे धर्म के लिये प्रकृति आग्रह उत्पन्न हुआ है या नहीं। ऐसा करने पर अधिकाश में हमे यही प्रतीत होगा कि हम सत्य ग्रहण के उपयुक्त नहीं हैं—हम में प्रकृति धर्म पिपासा जागृति नही हुई है।

शक्ति सञ्चारक गुरु के सम्बन्ध मे और भी कई विघ्न हैं। बहुत ऐसे हैं जो स्वय अज्ञानाच्छन्न होते हुए भी अहङ्कार से अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। यही नहीं ये लोग औरों को भी अपने कन्धों पर लादने का दावा करते हैं। इसी तरह अन्धे को अन्धा टिकाता है और दोनो कुएँ मे गिर जाते हैं। "अज्ञान से आच्छादित अत्यन्त निर्बुद्धि होने पर भी अपने को प्रकाण्ड पण्डित समझनेवाले, अन्धे को टिकानेवाले अन्धे के समान, प्रत्येक पद पर फिसलनेवाले ऐसे लोग चारों ओर घूमते हैं"।

ससार ऐसे आदमियों से भरा पड़ा है। सभी गुरु बनना चाहते हैं, सभी भिखारी लक्ष-लक्ष दान देना चाहते हैं। जैसे यह भिखारी हास्यास्पद बन जाते हैं, वैसे ही ऐसे गुरु लोग।

गुरु और शिष्य के लक्षण

तो हम गुरु की पहचान कैसे करें ? प्रकाश करने में सूर्य को और किसी मशाल की आवश्यकता नहीं, उसे देखने के लिए मोमबत्ती जलाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। सूर्योदय होते ही हम अपने आप जान जाते हैं कि वह उदय हो रहा है और संसार में जीवों के उद्धार के लिए गुरु के पदार्पण करते ही आत्मा को स्वभावत मालूम हो जाता है कि उस पर सत्य के सूर्य का प्रकाश पड़ना प्रारम्भ होगया है। सत्य स्वत प्रमाणित होता है—उसे प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं—वह स्वय प्रकाशित होता है। हमारी प्रकृति के अन्तस्तल में वह प्रवेश करता है, जिसके सन्मुख सारा ससार बोल उठता है कि "यही सत्य है"। जिन आचार्यों के हृदय मे ज्ञान और सत्य सूर्य के समान प्रकाश करते हैं, वही ससार के सर्वोच्च महापुरुष कहलाते हैं और जगत् के अधिकाश लोग उन्हीं की, ईश्वर मान कर, पूजा करते हैं। किन्तु अपेक्षाकृत अल्पज्ञानियों से भी हमें सहायता मिलती है। पर हममें वह अन्तर्दृष्टि नहीं है कि हम अपने आचार्य के विषय में यथार्थ

ज्ञान प्राप्त कर पावें। अस्तु गुरु तथा शिष्य दोनों के विषय में कई परीक्षाओं की आवश्यकता है।

शिष्य के आवश्यक गुण हैं—पवित्रता, प्रकृत-ज्ञान पिपासा और अध्यवसाय। अशुद्धात्मा पुरुष कभी भी प्रकृत धार्मिक नहीं हो सकता। मनसा, वाचा, कर्मणा जो पवित्र नहीं, वह धार्मिक कैसे हो सकता है और ज्ञान-तृष्णा-के सम्बन्ध में तो यह सनातन-सत्य प्रसिद्ध ही है कि हम जो चाहते हैं वह पाते हैं "जा पर जाकर सत्य सनेहू—सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू"। जो वस्तु हम हृदय से (तन, मन, धन से) नहीं चाहते, वह हमें कभी नहीं मिलती। धर्म के लिए स्वाभाविक व्याकुलता बड़ी कष्टलभ्य वस्तु है—जितनी सरल हम लोग इसे समझते हैं उतनी नहीं है। केवल धर्म-कथा सुनने अथवा धर्म पुस्तक पढ़ने से हृदय में धर्म-भाव प्रबल हो जाता है ऐसा तो है नहीं। जबतक प्राणों में व्याकुलता उत्पन्न नहीं होती, जबतक हम अपनी प्रकृति पर विजय नहीं प्राप्त करते तब तक सदैव ही हमें अनवरत अभ्यास करते रहना चाहिए और अपनी पाशविक प्रकृति से निरतर सग्राम करते रहना आवश्यक है। यह दो एक दिन का काम नहीं है—शत-शत जीवन पर्यन्त भी यह सग्राम चलता रहता है। किसी-किसी को सिद्धि अल्पकाल ही में प्राप्त हो जाती है पर यदि वह अनन्त काल में भी मिले तो हम उसके लिए भी धैर्य से तैयार रहना चाहिए। जो शिष्य इस अध्यवसाय और धैर्य से साधना में प्रवृत्त होता है, उसके लिए मोक्ष अवश्यम्भावी हो जाता है।

गुरु के सम्बन्ध में हमें यह जानने की आवश्यकता है कि वह शास्त्रों का मर्मज्ञ है अथवा नहीं। ससार में सभी वेद, बाइबिल अथवा कुरान का पाठ करते हैं पर केवल शब्द समि मात्र ही, जो धर्म की सूखी हड्डियों के समान है। जो गुरु शब्द शक्ति के सहारे ही मन को सचालित करने का प्रयत्न करते हैं, भाव भग कर डालते हैं, किन्तु जो शास्त्र के यथार्थ मर्म को जानते हैं, वही सच्चे धर्म गुरु होते हैं। शास्त्रों में शब्द जाल महावन के समान है, जिसमें पड़कर मनुष्य हिम्मत हार जाता है, परन्तु उसे पथ नहीं दर्शित होता है।" शब्द जाल महावन के समान मन विभ्रमित करने का कारण है—यथा "शब्दजाल महारण्य चित्त भ्रमण कारणम्"—विवेक चूणामणि में कहा गया है। "वाग्वैखरी शब्दभरी शास्त्र व्याख्यानकौशलम्—वैदुष्य विदुषा तद्वत् मुक्तये न तु मुक्त ये" अर्थात् "शब्द योजना, सुन्दर भाषा में वक्तृता और शास्त्रीय मर्मों की व्याख्या करने के अनेकों उपाय हैं, जो केवल पण्डितों के विचारार्थ और हमारे भोगार्थ हैं पर इनके द्वारा अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं होता। जो धर्म व्याख्या करते हुए इस प्रणाली का अवलम्बन करते हैं, वे केवल अपना पाण्डित्य दिखाने के इच्छुक हैं—उनकी इच्छा यही रहती है कि ससार हम महान पण्डित मानकर सम्मान करे। ससार के किसी भी प्रधान आचार्य ने शास्त्रों की इस प्रकार की विभिन्न व्याख्याएँ नहीं की हैं। उन्होंने शास्त्रीय श्लोकों को अपनी इच्छानुसार अर्थ करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया। तभी उन्होंने ससार को अत्यन्त

सुन्दर शिक्षा दे पाई। और जिनके पास सिखाने को कुछ है ही नहीं, वे तो केवल एक शब्द को लेकर उसी की व्याख्या करते हुए तीन चार पुस्तकें रच डालते हैं। उस शब्द की आदि क्या है, किसने उसका सर्व प्रथम प्रयोग किया, वह खाता क्या था और सोता कब था इत्यादि विषयों पर वे अपनी आलोचना करते हैं।

भगवान रामकृष्णजी एक कथा कहा करते थे कि एक आम के बाग में कुछ लोग पहुँचे। उनमें से जिनकी विषय बुद्धि अधिक थी, वे जुट गए आमों के पेड़ गिनने में, पेड़ों में आम गिनने में, वृक्षों की डालियाँ व पत्ते गिनने में।

पर उनमें से एक ने इन सब विषयों की कुछ भी चिन्ता न की और लगा आमों को चूसने। अब आप ही सोचें कि इनमें कौन अधिक बुद्धिमान था। आम खाने से तो पेट भरेगा मगर केवल पत्तियों के हिसाब किताब से क्या लाभ हो सकता है? यह पत्ते और डालियों का गिनना और दूसरे को समझाना छोड़ो। अवश्य ही इसकी उपयोगिता है मगर धर्म क्षेत्र में कुछ नहीं है। जिन्होंने इस प्रकार पत्तियाँ, डालें ही गिनी हैं, उनमें से एक भी धर्मवीर न निकल सका। धर्म के लिए—जो मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, जो मनुष्य के सर्वोच्च गौरव की वस्तु है—पत्ते गिनने के अति परिश्रम की आवश्यकता नहीं। यदि तुम भक्त होना चाहते हो तो कृष्ण मथुरा में जन्मे अथवा व्रजभूमि में, उन्होंने क्या किया, ठीक कौन दिन, उन्होंने गीता गाया इत्यादि बातों को जानने की कोई आवश्यकता नहीं। गीता में जो कर्म

और प्रेम सम्बन्धी सुन्दर शिक्षा है, साग्रह उसीका अनुसरण करना तुम्हारा कर्तव्य है। इसके सम्बन्ध में अथवा उसके प्रणेता के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त करना केवल पण्डितों का मनोरञ्जन मात्र है। वे जो चाहते हैं, उन्हें करने दो। उनके पण्डिताई के चड तर्क सुनकर कहो "शान्ति-शान्ति" और अपने आम खाने लगो।

दूसरे, गुरु को निष्पाप होना अत्यन्त आवश्यकीय है। बहुधा प्रश्न होता है कि हमारा गुरु के चरित्र और कर्म विवेचना से क्या लाभ हो सकता है? हमें तो बस उसके आदेशानुसार चलना है। पर यह बात ठीक नहीं। गति विज्ञान, रसायन विज्ञान या और किसी पदार्थ विज्ञान के शिक्षक के सम्बन्ध में हमें यह जानने की आवश्यकता नहीं कि वह कौन और क्या है? क्योंकि उनसे तो हमें केवल बुद्धि-वृद्धि करनी है, किन्तु यदि अध्यात्म विज्ञान का आचार्य अशुद्ध चित्त है तो धर्म का प्रकाश तो उसे कभी मिलता नहीं। तब अशुद्ध चित्त व्यक्ति धर्म शिक्षा क्योंकर दे सकता है? अपने लिए आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करना और उसे दूसरे व्यक्ति में सचार करने में आवश्यकता है, हृदय और मन की पवित्रता की। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक भगवदर्शन तथा ईश्वर की सत्ता का ज्ञान असम्भव है। अस्तु यह आवश्यक है कि गुरु का आचरण ससार के प्रति देखा जाय और फिर वह क्या कहता है, यह भी

गुरु को सम्पूर्ण रूप से शुद्ध चित्त होना आवश्यक है तभी उसके शब्दों का महत्त्व होता है, क्योंकि तभी वह स्वाभाविक शक्तिसंचारक हो सकता है। जब अपने ही में शक्ति नहीं तो वह सञ्चार क्या करेगा? गुरु के हृदय में इस प्रकार का प्रबल स्पन्दन विशेष होना चाहिए कि वह समवेदना वशीभूत शिष्य में सञ्चारित हो जाय। गुरु का वास्तविक कर्त्तव्य यही है कि वह शक्ति सञ्चार करे, केवल बुद्धि-शक्ति अथवा और किसी शक्ति को उत्तेजित करना उसका काम नहीं। यह स्पष्ट है कि गुरु से शिष्य को यथार्थ शक्ति मिले। अस्तु गुरु का शुद्ध चित्त होना अत्यन्त आवश्यक है।

तीसरे, यह देखना भी आवश्यक है कि गुरु का उद्देश्य क्या है? गुरु से तात्पर्य है कि जो अर्थ, नाम, यश किसी भी स्वार्थ सिद्धि के लिए धर्म शिक्षादान न करता हो वरन् सारी मनुष्य जाति के प्रेमवश ही उसका काम होता हो। अध्यात्मिक शक्ति शुद्ध प्रेमसूत्र द्वारा ही सञ्चारित हो सकती है। किसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण भाव जैसे लाभ या यश की इच्छा एक क्षण में इस प्रेमसूत्र को तोड फेकता है। भगवान् प्रेम स्वरूप हैं और जो लोग भगवान को प्रेम-रूप समझते हैं वही मनुष्य को ईश्वर का शुद्ध तत्त्व समझा सकते हैं।

यदि देखो कि गुरु में यह सब गुण विद्यमान हैं तो आशंका करने का अवसर नहीं। यदि ये गुण उसमें नहीं तो उसकी शिक्षा सफट शून्य न समझो, क्योंकि यदि वह हृदय में सावुमान

सञ्चारित न कर सका तो शायद असाधुभाव ही सञ्चारित कर दे
इस सङ्कट से हमें सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है
"जो विद्वान् है, निष्पाप है, कामगधहीन है, जो श्रेष्ठ महर्षि
है वही स्वाभाविक सद्गुरु है।" "श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो
ब्रह्मवित्तम" (विवेक चूडामणि श्लोक ३३)।

जितना बतलाया गया है उससे स्पष्ट है कि धर्म में अनुरा
करने, धर्म समझने और इस जीवनधारा को परिणत करने
'ऐरा-गैरा' से काम नहीं चलता। शेक्सपियर ने लिखा है।

'And this our life exempt from public haun
Finds tougues in trees, books in the runnin
books, Sermons in Stones and good in ever
thing' 'As you like it' Act 11 Sc I

अर्थात् पर्वतों से धर्मोपदेश, कलकल नादिनी नदी से ग्रन्थ
पाठ सब वस्तुओं से हमें शुभ प्राप्त होता है। परन्तु यह केवल
अलङ्कारिक वर्णन है, क्योंकि जिसके हृदय में धर्मबीज अपरिस्फु
भाव से छिपा नहीं है उसे कोई भी धर्मतत्वज्ञान नहीं सिख
सकता। पर्वत, नदी आदि किसे शिक्षा दे सकते हैं ?' जिसके
अन्दर पवित्र कमल निकल चुका हो ऐसी आत्मा को। और जिस
प्रकाश से यह हृदय कमल खिलता है वह है ज्ञान प्रकाश उसी
ब्रह्मविद सद्गुरु का। जब इस प्रकाश से कमल खिल उठता है
तब पर्वत, नदी, तारा, सूर्य, चन्द्र अथवा इस ब्रह्म-मय विश्व में
जो कुछ है, सबसे यह शिक्षा ले सकता है, किन्तु जिनका हृदय

कमल अभी नहीं खिला है, वह इस सबको पर्वत इत्यादि के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं देखता। अन्धा यदि चित्रशाला में जाय तो क्या देखेगा? पहले उसे आँखें दो, तब वह वहाँ की सारी वस्तुओं से शिक्षा ग्रहण कर सकेगा।

धर्म शिक्षार्थी की आँखें गुरु ही खोल सकता है। अस्तु अपने पूर्व पुरुषों से जो उसका सम्बन्ध है, गुरु से भी ठीक वही सम्बन्ध होता है। गुरु के प्रति बिना विश्वास के, बिना विनीत नम्र आचरण के, बिना उसकी आज्ञाकारिता के और बिना उसके प्रति गम्भीर श्रद्धा के हमारे हृदय में धर्म प्रकाश हो नहीं सकता। और यह भी विशेष विचारणीय विषय है। जिन देशों में गुरु शिष्य का ऐसा सम्बन्ध है, केवल उन्हीं देशों में असाधारण धर्मवीर पैदा हुए हैं, और जिन देशों में यह गुरु शिष्य सम्बन्ध नहीं है—जहाँ गुरु केवल वक्ता मात्र है, अपने लाभ पर ही दृष्टि रखता है और शिष्य केवल उसके वचन ध्यान धरता है और अन्त में दोनों अपने अपने रास्ते जाते हैं, वह सब देश धर्मवीरों से से खाली हैं। न कोई शक्ति सञ्चारक है न कोई शक्ति ग्रहण करनेवाला। ऐसे सभी देशों में धर्म व्यवसाय मात्र है। उन्हें प्रतीत होता है कि धर्म खरीदने बेचने की कोई वस्तु है। ईश्वरेच्छा से यदि धर्म इतना सुलभ होता तो बड़ा सुख था, किन्तु दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य से ऐसा है नहीं।

धर्म—सर्वोच्चज्ञान स्वरूप जो धर्म है—वह धनद्वारा विनिमय वस्तु नहीं, ग्रंथों से भी यह नहीं मिल जाता। सारा संसार घूमो,

हिमालय, आल्प्स, काकेशस इत्यादि सब देख आओ, समुद्र का अतल तल ढूँढ़ आओ, तिब्बत के चारों कोनो में अथवा मरुस्थल में मारे-मारे फिर आओ, परन्तु जब तक तुम्हारा हृदय इसे ग्रहण करने के उपयुक्त नहीं, जब तक तुम्हें गुरु नहीं मिलता, तब तक कहीं भी तुम उसे खोज कर नहीं पा सकते। विधाता द्वारा निर्दिष्ट गुरु जभी तुम्हें मिलेगा त्योंहीं तुम्हे विश्वास और सरलता से उसके प्रति हृदय खोल देना चाहिये। उसको साक्षात् ईश्वर रूप देखो। जो इस प्रकार प्रेम और श्रद्धा सम्पन्न होकर सत्य का अनुसन्धान करता है उसे सत्य के भगवान 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' प्रकाश देते हैं।

अवतार

जहाँ उसका नाम लिया जाय वही स्थान पवित्र हो जाता है, फिर जो व्यक्ति उसका नामोच्चारण करता है, वह कितना पवित्र होगा यह ध्यान देने योग्य है, तो ऐसी पवित्र आत्माओं के पास, जिन्हें अध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो चुकी है, हमें अत्यन्त भक्ति भावना से पहुँचना चाहिए। ऐसे श्रेष्ठतम धर्माचार्यों की सख्या इस ससार में कम तो अवश्य है, परन्तु उनसे यह ससार शून्य भी नहीं। जब यह जगत् ऐसे आचार्यों से शून्य हो, तो समझ लेना चाहिए कि ससार एक नरक कुण्ड हो गया है जो विनाश की ओर द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। ए लोग इस मानव जीवन-रूपी उद्यान के सुन्दर पुष्प होते हैं और "अहेतुक दयासिन्धु" (विवेक चूड़ामणि ३३) होते हैं। श्रीकृष्ण ने भागवत में कहा है "अचार्यं मा विजानीयात्" अर्थात् 'मुझे आचार्य समझो'।

साधारण गुरु श्रेणी से भी ऊँची एक और श्रेणी के गुरु होते हैं—ईश्वर के अवतार। ये तो स्पर्श द्वारा, यही नहीं केवल इच्छा मात्र द्वारा, दूसरे में भगवद्भाव सञ्चारित कर सकते हैं। उनकी इच्छा मात्र से नीचातिनीच दुराचारी भी एक क्षण में साधु-स्वरूप हो जाता है। ये सारे गुरुओं के भी गुरु होते हैं—मनुष्य में

ईश्वर की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति रूप हैं। हम सिवाय उनके द्वारा और किसी उपाय से भी भगवान का दर्शन नहीं कर सकते। बिना इनकी उपासना किए हम नहीं रह सकते और इन्हीं की उपासना करने के योग्य है तथा हम बाध्य भी हैं उनकी पूजा करने को।

इस मानवरूपधारी ईश्वर के अतिरिक्त हम और किसी उपाय से भगवान के दर्शन नहीं कर सकते। यदि हम और किसी रूप में उनके दर्शनों की इच्छा करते हैं, हम एक 'किम्भूतकिमाकार' जीव बनाते हैं और विश्वास करते हैं कि वह प्रकृत ईश्वर ही है। एक कथा है—एक अनारी से शिव की मूर्ति बनाने को कहा गया, कई दिन प्रयत्न करने पर उसने एक बन्दर की मूर्ति बनाई। वैसेही जब हम भगवान के निर्गुण पूर्ण स्वरूप की भावना करते हैं, तभी हम असफल हो जाते हैं, क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, ईश्वर को हम मनुष्य से उच्चतर होने के अतिरिक्त और किसी भावना से नहीं देख सकते। अवश्य ही वह समय आयेगा जब हम मनुष्य प्रकृति पार करके उसके स्वरूप के समझने में समर्थ होंगे। परन्तु जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक हम उसे मनुष्य मे अथवा मानव-रूप में ही पूज सकते हैं—चाहे जो कहो, चाहे जितनी चेष्टा करो, भगवान को मनुष्य रूप के अतिरिक्त और किसी रूप म समझ नहीं सकते। ईश्वर के सम्बन्ध मे ससार की सारी वस्तुओं के सम्बन्ध मे, आप खूब तर्कयुक्त वार्ता कर सकते हैं, बड़े युक्तिवादी बन सकते हैं और साबित कर सकते हैं कि ईश्वर का मानव रूप धारण करना

भ्रमात्मक मात्र है और इसके ऐसे प्रमाण दे सकते हैं जिनसे सम्पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्ति हो जाय, परन्तु सहज बुद्धि से एक बार विचार कर देखिए। इस प्रकार की अद्भुत विचार बुद्धि से क्या लाभ है? कुछ नहीं—शून्य और केवल वाक्याडम्बर मात्र। अब कभी यदि आपको अवतार के विरुद्ध, उसकी पूजा के विरुद्ध यदि कोई महायुक्ति से तर्क करता हुआ मिले तो उसे पकड़कर पूछो कि 'भाई' तुम्हारी ईश्वर के प्रति क्या धारणा है? सर्व शक्तिमान, जगत् पिता इत्यादि शब्दों के क्या अर्थ हैं। वह इसका ऐसा कोई अर्थ नहीं बतला सकता जिससे ईश्वर का मानवीय प्रकृति से कोई सम्बन्ध न हो। इस विषय में वह रास्ता चलने-वाले एक अपढ़ से अधिक कुछ नहीं जानता। हाँ, साधारण पथिक और इस पडित म यह अन्तर अवश्य है कि पथिक शान्ति प्रकृति का है और ससार की शान्ति भग भी नहीं करता और यह लम्बा चौड़ा-वाक्य-व्ययकारी व्यक्ति समाज मे अशान्ति और दुःख भर देता है। वास्तव में प्रत्याक्षानुभूति के अतिरिक्त धर्म, धर्म कहलाने योग्य नहीं। अतएव हमे प्रत्याक्षानुभूति और व्यर्थ-वाक्य-व्यय मे पृथ्वी आकाश का अन्तर मालूम पड़ता है। आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश मे प्रवेश करके जो हम अनुभव करते हैं, वह है प्रत्याक्षानुभूति, किन्तु इस विषय का सहज ज्ञान जितना दुर्लभ है और किसी विषय का उतना नहीं।

हमारी प्रकृति वर्तमान समय मे जैसी है, उससे हम बाध्य हैं कि भगवान् को हम मनुष्यरूप मे देखें। उदाहरणत यदि भैंस

ईश्वर की पूजा करने की इच्छा करे तो उसके स्वभावानुसार वह ईश्वर को एक बड़ी भैंस के रूप में देखेगी। यदि मछली भी भगवान की आराधना करने की इच्छा करे तो उसे ईश्वर को एक 'वृहत्मत्स्य' रूप देखना पड़ेगा और मनुष्य को भगवान को मनुष्य रूप ही मानना होगा। यह न समझियेगा कि यह सारी धारणाएँ विकृत-कल्पना के कारण होती हैं। मनुष्य, भैंस, मछली यह सब एक वर्तन के समान हैं। भगवत्समुद्र में यह सब अपनी जलधारणशक्ति तथा आकृति के अनुसार अपने को भरते हैं। मनुष्य में जल मनुष्य का रूप धारण करता है, भैंस में भैंस का स्वरूप तथा मछली में मछली का रूप यद्यपि इन सब वर्तनों में एक ही भगवतसागर का जल भरा हुआ है। मनुष्य उसे मनुष्य रूप देखेगा और और जीव यदि भगवत्सम्बन्धी कोई ज्ञान प्राप्त करता है तो वह अपनी ही धारणा के अनुसार अपनी जाति के जीव के समान ईश्वर को देखेगा। अतएव हम भगवान को मनुष्य रूप के अतिरिक्त और किसी प्रकार नहीं देख सकते। अस्तु, हम उसकी मनुष्यरूप में उपासना करेंगे और कोई उपाय नहीं है।

भगवान की मनुष्य रूप में दो प्रकार के मनुष्य उपासना नहीं करते हैं। पहले तो नर पशु हैं, जिन्हें किसी प्रकार का भी धर्मज्ञान नहीं, दूसरे वे परमहंस जिन्होंने सारी मानवीय दुर्वलताओं पर विजय प्राप्त करके मनुष्य प्रकृति की सीमा पार कर चुके हैं और सारी प्रकृति जिन्हें आत्मस्वरूप प्रतीत होती

है, वही केवल भगवान की ईश्वर स्वरूप में उपासना कर सकते हैं। अन्य स्थलों के समान यहाँ भी दो अत्यन्त विरोधी भाव एकरूप होते पाए जाते हैं। अतिशय अज्ञानी और परमज्ञानी कोई भी उपासना नहीं करते, नरपशु तो अज्ञानवश उपासना नहीं करते और जीवनमुक्त पुरुष, सदैव ही अपनी आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हुए उसको स्वतंत्र करने की आवश्यकता नहीं देखता। इन दोनों विरोधी (चूड़ान्त) भावों के मध्यस्थित मनुष्य यदि कहे कि मैं ईश्वर को मनुष्य रूप में उपासना करने की इच्छा नहीं करता तो ऐसे मनुष्य का विशेष यत्न से तत्वावधान करना आवश्यक है। उसके लिये कठोरतर भाषा का प्रयोग न करने पर भी कहना पड़ता है कि वह प्रलापभाषी है। उसका धर्म विकृत मस्तिष्क तथा मस्तिष्क-विहीन लोगों के लिए ही है।

भगवान मनुष्य की दुर्बलताओं को समझते हैं और मनुष्य के हित के लिए अवतरित होते हैं। "यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनाम्, विनाशायच दुष्कृताम्, धर्मसस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे॥" भगवद्गीता-चतुर्थ अध्याय। अर्थात् हे भारत! जब जब धर्म की क्षति और अधर्म की उन्नति होती है तब तब मैं अपने को सृजन करता हूं। साधुओं की रक्षा, पापियों का दुष्कृतिनाश और धर्म को स्थापित करने के लिए मैं समय समय पर अवतार धारण करताहूं"।

"अव जानन्ति मा मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्, परभावमजानन्तो, मम भूतमहेश्वरम्," अर्थात् अज्ञानी लोग मुझे मानुषरूपधारी समझकर और मेरे असली स्वरूप को न जानते हुए मेरा उपहास करते हैं।"

(गीता ६ अध्याय)

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अवतार के सम्बन्ध में यह सब कुछ कहा है। भगवान् श्री रामकृष्णदेवजी ने कहा है, "जब प्रबल ज्वार भाटा उठता है, तो सारी क्षुद्र नदियाँ किनारों तक आप ही आप भर जाती हैं। उसी प्रकार जब अवतार होता है, तो संसार में एक महान अध्यात्मिक तरग उठती है और वायु मण्डल भी धर्मभाव से ओत-प्रोत हो जाता है"।

मन्त्र

किन्तु अब हम इन महापुरुषों—इन अवतारों के सम्बन्ध मे अधिक कुछ न कहेंगे। इस समय तो हमे सिद्ध गुरुओं के विषय की आलोचना करनी है। वे सचराचर मन्त्रद्वारा शिष्यों म अध्यात्मिक ज्ञान का बीज बो देते हैं। यह मन्त्र क्या है ? भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार सारा ससार नामरूपात्मक है। मनुष्य के इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड स्वरूप चित्त मे ऐसी कोई तरग नही उठती जो नाम रुपात्मक न हो। यदि यह सत्य है कि प्रकृति सर्वत्र ही एक नियम से निर्मित है तो हमे कहना पडेगा कि इस सब ब्रह्माण्ड का नियम भी नाम रूपात्मक है। "यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मय विज्ञात स्यात्" (छान्दोग्य उपनिषत्) अर्थात् जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड को जानने पर सारी मिट्टी की चीजे जानी जाती हैं, उसी प्रकार एक देह पिण्ड को जानने पर सारा ब्रह्माण्ड पिण्ड जाना जा सकता है। किसी वस्तु का रूप उसकी बाहिरी खोल के समान है तो नाम उसके अन्दर की गूदी के समान। शरीर तो रूप के समान है और मन अथवा अन्त करण—नाम है और वाक् शक्ति सयुक्त प्राणियों के नाम के साथ उनके वाचक शब्दों का अभेद्य सम्बन्ध है। मनुष्य के अन्दर

चित्त अथवा महत् में जो चिन्ता तरङ्गें उठती हैं वे पहले शब्द और फिर उससे स्थूलतर आकार को धारण करती हैं।

इस बड़े ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, हिरण्य गर्भ अथवा महत् ने पहले अपना नाम फिर अपना रूप अर्थात् परिदृश्यमान जगद्रूप प्रकट किया। यही व्यक्त, इन्द्रिय ग्राह्य जगत् रूप है जिसके पीछे अनन्त अव्यक्त 'स्फोट' रहता है। स्फोट—सारे जगत की अभिव्यक्ति कारण—शब्द ब्रह्म है। सारे नाम अर्थात् भावों का सदैव सगी उपादान स्वरूप यह अनन्त स्फोट वह शक्ति है जिसके द्वारा भगवान इस ससार की सृष्टि करते हैं। यही नहीं—भगवान पहले अपने को स्फोट रूप मे परिणत करके फिर अपेक्षा कृत स्थूल होकर इस परिदृश्यमान जगत का रूप धारण करते हैं। इस स्फोट के लिये केवल एक वाचक शब्द है और वह है ॐ। जैसे हम किसी प्रकार के विश्लेषण से भी भाव को शब्द से अलग नहीं कर सकते वैसे ही इस ॐ में और नित्य स्फोट में अनन्त सम्बन्ध है। अतएव अनायास ही मन मे आजाता है कि सब नाम रूप को पैदा करनेवाले 'ओङ्कार' पवित्रतम शब्द ही से यह जगत सृष्टि हुई है। पर यदि यह कहा जाय कि शब्द और भाव में अनन्त सम्बन्ध होते हुए भी एक भाव के अनेक वाचक शब्द हो सकते हैं तो सारे जगत की अभिव्यक्ति का कारण स्वरूप भाव का वाचक शब्द एक ओङ्कार ही नहीं हो सकता। इसका उत्तर हम यह देंगे कि ओङ्कार ही इस प्रकार का सर्वभावव्यापी एक शब्द है—और कोई शब्द इसके समान नहीं है। स्फोट ही

सब भावों का उपादान है और इसमें कोई विकसित भाव नहीं। अर्थात् शब्दों मे जो विभिन्न भावो का भेद है, उसे यदि दूर कर दिया जाय तो शेष स्फोट ही रह जाता है। इसलिये इस स्फोट को 'नादब्रह्म' कहा गया है। और जब किसी वाचक शब्द द्वारा इस अव्यक्त स्फोट को व्यक्त करने से इसका 'स्फोटत्व' जाता रहता है तो हमें ऐसा शब्द खोजना चाहिए, जिससे यह स्फोट कम से कम घटे और अधिक से अधिक इसका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो। वही शब्द सर्वापेक्षा स्फोट का वाचक हो सकता है। ओङ्कार, केवल ओङ्कार, ही वह शब्द है। क्योंकि अ, उ, म् यह तीन अक्षर एकत्र करने से 'ओऽम्' ऐसे उच्चारित होता है कि सर्व प्रकार के शब्दों का यही साधारण वाचक शब्द हो सकता है। 'अ' सारे शब्दों में सब की अपेक्षा विशेष भावापन्न कम होता है। इसी से भगवान कृष्ण ने गीता मे कहा है "अक्षराणामकारोऽस्मि" अर्थात् अक्षरों मे मैं 'अ' हूँ और सब स्पष्टोच्चारित शब्द मुँह मे जिह्वा के मूल भाग मे लेकर ओठों तक के स्पर्श से उच्चारित होते हैं। 'अ' कण्ठ से उच्चारित होता है और म ओठों से। कण्ठ से उठकर जो शक्ति ओठों तक लहराती है, उसी के द्वारा 'उ' का उच्चारण होता है। स्वभाविक रूप से उच्चारण करने पर यही 'ओम्' सारे शब्दोच्चारण-व्यापार का सूचक है और किसी शब्द मे ऐसीशक्ति नहीं है। अस्तु-यही शब्द स्फोट का ठीक उपयोगी वाचक है और यही स्फोट ओङ्कार का स्वाभाविक वाच्य है। चूंकि वाच्य और वाचक अलग अलग नहीं। इसलिये यह

ओ३म् और स्फोट भी एक ही है। इसलिये यही स्फोट व्यक्ति जगत का सूक्ष्मतमांश होने से ईश्वर से अत्यन्त निकटवर्ती है एवं ईश्वरीय ज्ञान का प्रथम प्रकाश है। इसलिये 'ओङ्कार' ही ईश्वर प्रकृति वाचक है। जैसे उसी एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म को अपूर्ण जीवात्माएँ विशेष विशेष भाव तथा विशेष गुण युक्त समझते हैं, उसी प्रकार उसके शरीर के समान इस जगत को भी साधकगण मनोभावानुकूल भिन्न भिन्न रूप में देखते हैं।

उपासक के मन में जिस समय जो तत्व प्रबल होता है, उस समय उसके हृदय में वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं। इसका फल यह होता है कि एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न गुणों से संयुक्त दिखाई पड़ता है और वही एक जगत भिन्न भिन्न रूप में प्रतिभासित होता है। अपेक्षाकृत अल्प विशेष भावापन्न सार्वभौमिक वाचक 'ओङ्कार' जैसे वाच्य वाचक के घनिष्ट सम्बन्ध में सम्बद्ध है, उसी प्रकार का वाच्य-वाचक का अविच्छिन्न सम्बन्ध ईश्वर और जगत के भिन्न भिन्न भावों में विद्यमान है। और इन सबके लिये विशेष-विशेष वाचक शब्दों के होने की आवश्यकता है। महापुरुषों की गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति से उठकर यही वाचक-शब्द-समूह भगवान और जगत के विशेष विशेष भावों को प्रकाशित करते हैं और जैसे 'ओङ्कार' अखण्ड ब्रह्म वाचक है वैसे ही अन्यान्य मन्त्र उसी परम पुरुष के खण्ड भावों के वाचक हैं। यह सभी भगवत्-ध्यान और प्रकृति ज्ञान लाभ करने में सहायक होते हैं।

प्रतीक और प्रतिमा की उपासना

अब हम प्रतीक की उपासना और प्रतिमा के विषय की समालोचना करेंगे। प्रतीक का अर्थ है उन सब वस्तुओं से जिनमें ब्रह्म परिवर्तित मान कर उपासना के योग्य बनाते हैं, तो प्रतीक मे भगवदुपासना का क्या अर्थ है ? भगवान रमानुजाचार्य ने कहा है, "अब्रह्माणि ब्रह्मदृष्ट्याऽनुसंधानम्"। ब्रह्म-सूत्र ४ अध्याय) अर्थात् 'जो ब्रह्म है उसे ब्रह्ममानकर ब्रह्म का अनुसंधान करना प्रतीक की उपासना करना कहलाता है। शङ्कराचार्य ने भी कहा है, "मन को ब्रह्मरूप मे उपासना करना अध्यात्मिक कहलाता है, आकाश को ब्रह्म मानलेना आधिदैविक है (मन आध्यात्मिक और आकाश बाह्य प्रतीक—इन दोनो की उपासना ब्रह्म प्राप्ति के लिए करनी होगी)।" इसी तरह, आदित्य ही ब्रह्म है, यही आदेश है" "जो नाम को ब्रह्म रूप पूजते हैं" इत्यादि स्थलों मे प्रतीक की उपासना के सम्बन्ध में शशय हो जाता है"। प्रतीक शब्द का अर्थ है "उसकी ओर जाना" और प्रतीकोपसना का अर्थ है ब्रह्म को किसी वस्तु में परवर्तित मान कर उसकी पूजा जो एकाश मे अथवा अधिकाश मे ब्रह्म मे सन्निहित है परन्तु स्वय ब्रह्म नहीं। श्रुतियों मे वर्णित प्रतीकों के अतिरिक्त पुराण और तन्त्र

ग्रन्थों मे अनेकों प्रतीकों के वर्णन हैं। सारी पित्रोपासना और और देव उपासना इसी प्रतीको पासना मे अन्तरभुक्त हो सकती है।

बात यह है कि केवल ईश्वर की उपासना का ही नाम भक्ति है। देव, पितृ अथवा अन्य कोई उपासना भक्ति-शब्द वाच्य नहीं हो सकती। भिन्न उपासनाएँ जो कर्मकाण्ड में वर्णित है उपासक को केवल कैसा भी स्वर्ग भोग रूपी विशेष फल की दाता हो सकती हैं किन्तु उनसे भक्ति का उदय नहीं होता, उनसे मुक्ति भी नही प्राप्त होती। इस लिये एक बात अवश्य ध्यान मे रखने की आवश्यकता है। दार्शनिक दृष्टि से परब्रह्म के अतिरिक्त जगत के कारण की कोई और उसकी उच्चतर धारणा हो ही नहीं सकती। पर प्रतीक का उपासक कहीं कहीं इसी प्रतीक को ब्रह्म का स्थान दे देता है और उसको, अपने आत्मस्वरूप पूजता है। तभी उपासक लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है क्योंकि स्वभावतः कोई भी प्रतिमा उपासक की आत्मा नहीं हो सकती। परन्तु जहा ब्रह्म ही उपास्य है और प्रतिमा उसकी केवल प्रतनिधि स्वरूप है अथवा उसके लिए उद्दीपन मात्र है अर्थात् जहा प्रतिमा की सहायता से सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना की जाती है प्रतिमा को प्रतिमा ही न समझकर जगत का कारण रूप माना जाता है, वहां इस प्रकार की उपासना की विशेष, उपकारिता होती है केवल यही नहीं, प्रवर्तकों के लिए अनिवार्य रूप से इसकी उपयोगिता है। अस्तु जब हम किसी देवता अथवा अन्य प्राणी को उसी देवता

तथा प्राणी के रूप में पूजते है तो इस प्रकार की उपासना केवल एक धर्म कही जा सकती है और यदि विद्या भी मानी जाय तो उपासक को उस विद्या विशेष का फल मिल सकता है, किन्तु जब कोई देवता अथवा अन्य प्राणी ब्रह्मरूप मे देखा और पूजा जाता है तो यह ईश्वरोपासना के समान फल देनेवाला हो जाता है। इसीसे समझ मे आजाता है कि अनेक स्थलों पर, श्रुतियों, स्मृतियों आदि सब मे, किसी देवता, महापुरुप अथवा अन्य अलौकिक पुरुप का देवत्व, पुरुपत्व इत्यादि भूलकर उनको ब्रह्मरूप मे उपासना करना कहा है। अद्वैतवादी कहते हैं, "नाम और रूप अलग कर देने पर क्या प्रत्येक वस्तु ब्रह्म नहीं होती ?" विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं "वही प्रभू क्या सबकी अन्तरात्मा नहीं होता ?" शङ्कराचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य मे कहा है "फलमादित्या-द्युपासनेपु ब्रह्मैव सर्वाध्यक्षत्वात्" और "ईदृशम् चात्र ब्रह्मण उपास्यत्व यत प्रतीकेपु तद्दृष्टाध्यारोपण प्रतिमादिपु इव विष्णुदीना" अर्थात् "आदित्य आदि की उपासना का फल ब्रह्म ही देता है। क्योंकि वही सर्वाध्यक्ष है।" "जैसे प्रतिमा में विष्णु आदि मान लिये जाते हैं उसी प्रकार प्रतीक मे ब्रह्म दृष्टि भी आरोपित होती है। अस्तु—यहाँ ब्रह्म ही की उपासना प्रतिमा द्वारा समझनी चाहिए।

प्रतीक के सम्बन्ध में जो सब बातें कही गई हैं प्रतिमा के सम्बन्ध में भी वे सब लागू हैं अर्थात् यदि प्रतिमा किसी देवता अथवा साधु की द्योतक है तो उसकी उपासना भक्ति नहीं कही जा सकती और न इससे मुक्ति लाभ ही हो सकता है। किन्तु यदि

यह प्रतिमा उसी एक ईश्वर की सूचक है तो उसकी उपासना से भक्ति और मुक्ति दोनो मिलती है। ससार के प्रधान प्रधान धर्मों में वेदान्त, बौद्ध धर्म, और ईसाई धर्म के कोई-कोई सम्प्रदाय प्रतिमा पूजा का कुछ भी विरोध नहीं करते वरन् प्रतिमा के साथ सद्व्यवहार करते हैं केवल मुसलमान और प्रोटेस्टेंट धर्म इस सहायता को जरूरत नहीं स्वीकार करते तथापि मुसलमान लोग अपने साधुओं और आत्म बलिदान करनेवाले व्यक्तियों की समाधियों को प्रतिमा के समान ही पूजते हैं। प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय मे बाह्य सहायता की आवश्यकता न रखने के कारण यह प्रतिदिन क्रमश उच्च आध्यात्मिक भावों से विच्युत हो रहा है यहाँ तक कि आज कल प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय और केवल नीति मात्रवादी आगस्टी कौन्टी के शिष्यों में कोई भेद भाव नहीं रहा और ईसाई और इस्लाम धर्म म प्रतिमा पूजा का जो कुछ अवशेष है वह केवल यह है कि वे केवल प्रतीक अथवा प्रतिमा की ही उपासना करते हैं ब्रह्म प्राप्ति की सहायतार्थ नहीं अस्तु यह कर्म-काड के अन्तर्गत ही है। अतएव इससे भक्ति अथवा मुक्ति की कोई प्राप्ति नहीं। इस प्रकार की प्रतिमा पूजा में आत्मा और ईश्वर को अन्य वस्तुओं के लिये आत्म समर्पण करना होता है और इसलिये प्रतिमा, समाधि, मन्दिर इत्यादि का इस प्रकार व्यवहार करना वास्तव में मूर्ति पूजा कहलाता है। किन्तु इससे भी कोई पाप कर्म अथवा अन्याय नहीं होता। यह तो केवल कर्म मात्र है—उपासक को इस का फल अवश्य मिलता है।

इष्ट निष्ठा

अब हम इष्ट निष्ठा के सम्बन्ध में आलोचना करेंगे। जो भक्त बनना चाहता है उसे यह याद रखना आवश्यक है कि जितने मत हैं उतने ही पथ—उसे यह जानने की आवश्यकता है कि विभिन्न सम्प्रदाय उस एक ही भगवान की महिमा के भिन्न भिन्न विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

"नाना मकारि बहुधा निज सर्व शक्ति
 स्तत्रार्पिता नियमित स्मरणे न काल।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
 दुर्दैवमीदृशमिह जने नानुराग" (श्रीकृष्ण चैतन्य)

अर्थात् ससार तुम्हे कितने नामों से पुकारता है, ससार तुम्हे कितने ही नामों में बॉट डालता है। किन्तु इन सभी नामों में तुम्हारी पूर्ण शक्ति विद्यमान है। जो उपासक जिस भाव से तुम्हें प्रेम करता है उसके प्रति तुम उसी नाम में प्रकाशित मिलते हो। तुम्हारे प्रति आत्मा का एकान्त अनुराग हो जाने पर तुम्हारे मिलने का भी कोई निर्दिष्ट समय नहीं है तुम शीघ्रातिशीघ्र भी मिल जाते हो। तुम्हारे निकट इतनी सरलता से पहुँचा

जा सकता है। किन्तु यह मेरा ही दुर्भाग्य है कि तुम्हारे प्रति अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ। यही नहीं, भक्तों को उचित है कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिष्ठाताओं महातेजस्वी ज्योति के सुपुत्रों, के प्रति घृणा न करें, उनकी दोषदृष्टि युक्त समालोचना न करें, यहाँ तक कि दोष दिखलानेवालों की सुनें भी नहीं। ऐसे लोग विरले ही मिलते हैं जो उदारता सम्पन्न, दूसरे के गुण निरीक्षण में समर्थ और गम्भीर प्रेम सम्पन्न हों। देखने में तो यही आता है कि उदार भावापन्न सम्प्रदाय अपनी सारी प्रेम की गम्भीरता खो देते हैं। और उनके प्रति धर्म एक प्रकार का राजनैतिक सामाजिक समिति के समान सभ्य गणों का कर्त्तव्य मात्र रह जाता है। और अत्यन्त संकीर्ण सम्प्रदायिक गण अपने इष्ट के प्रति भक्ति सम्पन्न तो खूब होते हैं, किन्तु उनकी यह भक्ति दूसरे सारे सम्प्रदायों के ऊपर घृणा भाव से प्रेरित होती है। ईश्वरेच्छा से यदि संसार परम उदार और गम्भीर प्रेम सम्पन्न लोगों से परिपूर्ण होता तो बड़ी ही अच्छी बात होती। किन्तु इस प्रकार के महानुभावों की अत्यन्त कमी है। और वह भी यदाकदा जन्म लेते हैं। तथापि हम जानते हैं,—संसार के अनेकों लोगों को इस प्रकार की गम्भीरता और उदारता का अपूर्व सम्मिलन रूप आदर्श सिखाना सम्भव है, और इसका उपाय यही इष्टनिष्ठा है। सारे धर्मों के सब सम्प्रदाय मनुष्य को केवल एक ही आदर्श दिखलाते हैं, किन्तु सनातन वेदान्तिक धर्म ने भगवान के उसी मन्दिर के अन्तर देश में प्रवेश करने के

अनन्त द्वार खोल दिये हैं। और मनुष्य के सामने अगण्य आदर्शों की स्थापना की है। वे आदर्श उसी अनन्त स्वरूप परमात्मा के अलग अलग विकास हैं। "ममैवांशो जीवलोके अ० १५ श्लोक ७ गीता" परम करुणा के वशीभूत हो वेदान्त मुमुक्षु नर-नारियों को अतीत और वर्तमान महिमामय ईश्वर ने मानवीय अवतारों द्वारा मनुष्य जीवन की वास्तविक घटनावली रूपी कठिन झाड़ियों को काटकर विभिन्न पथ दिखला दिये हैं। और हाथ उठाकर सबको—यहाँ तक कि दूसरी जाति के लोगों को भी सत्य और आनन्द का अथाह समुद्र दिखला दिया है। जहाँ मनुष्य की आत्मा माया जाल से मुक्त होकर सम्पूर्ण स्वाधीनता और अनन्त आनन्द में मतवाली बन सकती है। अतएव भक्ति-योग भगवत् प्राप्ति के विभिन्न पथों में किसी को घृणा नहीं करता—तथापि जब तक पौधा छोटा रहता है तब तक उसे चारों ओर आड लगाने की आवश्यकता होती है। अपक्व अवस्था में एकबारगी नाना प्रकार के भाव और आदर्श मनुष्य के सम्मुख उपस्थित करने से धर्मरूपी कोमल लता का सूख जाना सम्भव है। बहुत से लोग धर्म के विषय में उदारता के नाम पर बराबर अपने भाव परिवर्तन करते रहते हैं और वृथा ही अपने को हास्यास्पद बनाते हैं। उनके लिये नये-नये विषयों का सुनना एक प्रकार का व्यायाम—एक प्रकार की लता-सी हो जाती है। वह क्षणिक उत्तेजना चाहते हैं। और एक उत्तेजना शात हो जाने पर दूसरी की आवश्यकता उन्हें प्रतीत होती है। धर्म उनके लिये अफ़ीमची का नशा-सा होता है, बस!

भक्ति के साधन

भक्ति प्राप्ति के उपाय तथा साधनों के सम्बन्ध में रामानुजाचार्यजी अपने वेदान्त भाषा में लिखते है, "विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष द्वारा भक्ति प्राप्त होती है।" रामानुजीय मतानुसार विवेक का अर्थ है खाद्याखाद्य का विचार। उनके मत से खाद्यपदार्थ की अशुद्धि के तीन कारण हैं—(१) जाति दोष अर्थात् खाद्य सामग्री में जो प्राकृतिक दोष होते हैं जैसे लहसुन, प्याज में स्वभावत जो अशुचि दोष हैं—(२) आश्रय दोष अर्थात् पतित अथवा अभिशापित व्यक्ति के हाथ से खाने में जो दोष हैं—(३) निमित्त दोष अर्थात् और किसी अशुद्ध वस्तु का, जैसे बाल, धूलि इत्यादि सस्पर्श के दोष। श्रुतियों मे लिखा है कि "आहार शुद्धौ सत्वशुद्धि· सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति· अर्थात् शुद्ध आहार करने से चित्त शुद्ध रहता है और चित्त शुद्ध होने से भगवान का निरन्तर स्मरण किया जा सकता है। रामानुजाचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् से यही वाक्य उद्धृत किया है।

भक्ति मार्गावलम्बियों के मत से यह खाद्याखाद्य विचार चिर काल से आवश्यकीय माना गया है। अनेक भक्त सम्प्रदायों में

इस विषय को अत्यन्त अस्वाभाविक-सा बना दिया है अवश्य, किन्तु साथ ही इसमें एक गुरुतर सत्य भी छिपा हुआ है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि साख्यदर्शन के अनुसार जब सत्, रज, तम सब समान रूप मे होते हैं तो प्रकृति मे और वैषम्यावस्था मे जगतरूप मे परिणत हो जाते हैं। ये तत्व प्रकृति के गुण तो हैं ही, साथ ही ये उसके उपादान भी हैं। अतएव इन्हीं सब उपादानों से मनुष्य का शरीर निर्मित है। इन नर-देहों में जिनमें सत्व पदार्थ की प्रधानता पाई जाती है उन्हीं में अधिक अध्यात्मिक उन्नति मिलती है। हमारे अहार से हमारे शरीर में जो उपादान उत्पन्न होते हैं उनसे हमारे मानसिक-गठन में विशेष सहायता प्राप्त होती है। इसीलिए हमें खाद्याखाद्य का विशेष विचार रखना होगा, परन्तु अन्यान्य विषयों के समान इस विषय में भी यदि शिष्य कट्टरता करता हो तो उसका दोष आचार्यों पर आरोपित करना नितान्त अनुचित है।

वास्तव में, खाद्याखाद्य का विचार गौण है। इसीको शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य के पूर्वोद्धृत वाक्य में अन्यप्रकार से सशोधित किया है। इस वाक्य मे 'आहार' शब्द से जो साधारण भोजन का अर्थ निकलता है, शङ्कराचार्य ने उससे विभिन्न अर्थ में उसकी व्याख्या की है। उनके मतानुसार "जो आहृत है वही आहार है।" शब्दादि विषयों का ज्ञान भोग होता है अर्थात् आत्मा के उपभोग के हेतु ये मनुष्य शरीर में 'आहृत' होते हैं। यही विषयानुभूति रूपी ज्ञान की शुद्धि को आहार शुद्धि कहते

हैं। अतएव आहार शुद्धि का अर्थ हो जाता है, आसक्ति, द्वेष, अथवा मोहशून्य विषय विज्ञान। अस्तु, जितना ही जिसका ज्ञान अथवा 'आहार' शुद्ध होगा उतना ही उसका सत्व अर्थात् अन्तरिन्द्रियाँ शुद्ध होंगी। और सत्वशुद्धि होने से अनन्त पुरुष का यथार्थ ज्ञान तथा अविच्छिन्न स्मृति आएगी। ❀

यह दोनों व्याख्यायें यद्यपि आपस में विरोधी भास होती हैं, किन्तु दोनों ही सत्य और आवश्यक हैं। सूक्ष्म शरीर अथवा मन को सयमित रखना मांस पिण्डमय स्थूल शरीर के सयम से श्रेष्ठतर कार्य अवश्य है, किन्तु सूक्ष्म के सयमित करने से पहले स्थूल का सयमित होना अनिवार्य है। अतएव जिज्ञासु को आहार सम्बन्धी उन सब नियमों का पालन करना आवश्यक है जो उसकी गुरुपरम्परागत हैं, परन्तु वर्तमान समय में ऐसे अनेकों सम्प्रदाय हैं जिन्होंने अहारादि के विचारों को इतना बड़ा बना दिया है, इतने निरर्थक नियमों से बाध दिया है और इस विषय में इतनी कट्टरता दिखलाते हैं मानो धर्म रसोई घर में हैं। कब

❀ आह्रियत इत्याहार शब्दादि विषय ज्ञान भोक्तुर्भोगायाह्रियते। तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धिः रागद्वेष मोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञान मित्यर्थः। तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोन्त करणस्य सत्वस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति। सत्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमात्मनि ध्रुवाविच्छिन्न स्मृतिरविस्मरण् भवति।

(छान्दोग्य उपनिषदु ७ म प्रपाठक शंकर भाष्य)

वह धर्म का महान सत्य समूह रसोई घर से बाहर निकलकर अध्यात्मिकता के सूर्यालोक में उद्भासित होगा, कहा नहीं जा सकता, परन्तु कोई सम्भावना उसके बाहर आने की नहीं दिख लाई देती। इस प्रकार का धर्म एक विशेष प्रकार का जड़वाद ही समझना चाहिए। यह न तो ज्ञान ही है और न भक्ति अथवा कर्म ही। हा—यह एक प्रकार का पागलपन अवश्य है जो इस खाद्याखाद्य विचार को ही जीवन का सार समझते हैं उन्हें ब्रह्म-लोक में गति पाने की जगह पागलखाने में उचित स्थान मिलने की अधिक सम्भावना है। अतएव युक्ति युक्त तो यही जान पड़ता है कि खाद्याखाद्य का विचार मन की स्थिरता के लिए विशेष आवश्यक है क्योंकि इसके बिना इस स्थिरता की प्राप्ति नहीं होती।

फिर आता है 'विमोक'। विमोक का अर्थ है 'मन की इन्द्रियविषयाभिमुखी गति को निवारण करके उसे संयमित कर अपनी इच्छा के वश करना—और सारी धर्म साधना की नींव यही है।

तदुपरान्त अभ्यास अर्थात् आत्म सयम तथा आत्म-त्याग का अभ्यास परमात्मा का हम अपने में जिस विचित्र रूप में अनुभव और जिस गम्भीर भाव से सम्भोग प्राप्त कर सकते हैं वह बिना जिज्ञासु के प्राणपण से चेष्टा और प्रबल समय के बिना नहीं हो सकता। "मन जिसमें सदा ही उसी ईश्वर के चिन्तन मे लगा रहे"। पहले पहले तो यह अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। किन्तु अध्यवसाय की सहायता से चेष्टा करने पर यह चिन्तन

शक्ति क्रमश बढ़ जाती है। श्रीकृष्णजी ने गीता म लिखा है 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्येत' अर्थात् 'हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह पाया जा सकता है'।
इसके बाद आती है 'क्रिया' अर्थात् यज्ञ। पञ्च महायज्ञों का नियमित रूप से अनुष्ठान करना होगा।

'कल्याण' का अर्थ यहाँ है 'पवित्र'। और इस पवित्रता की नीव पर ही भक्ति का प्रासाद सम्पूर्ण निर्भर है। बाहिरी सफाई अथवा खाद्याखाद्य सम्बन्धी विचार दोनों ही सहज हैं। किन्तु बिना अन्त शुद्धि के ये दोनों निरर्थक हैं। रामानुजाचार्यजी ने अन्त शुद्धि के उपाय स्वरूप निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता बतलाई है (१) सत्य (२) आर्जव (सरलता) (३) दया (निस्वार्थ परोपकार) (४) दान (५) अहिंसा—अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा हिंसा न करना और (६) अनभिध्या अर्थात् पराए धन का लोभ, वृथा चिन्ता और दूसरे के अनिष्टाचरण की क्रमागत चिन्ता इत्यादि का परित्याग। इस तालिका मे दिए हुए 'अहिंसा' शब्द के विषय में दो चार शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। सभी प्राणियों के प्रति हमें इस अहिंस भाव को वर्तना होगा। कोई-कोई ऐसा समझते हैं कि मनुष्य के प्रति अहिंसाभाव का अवलम्बन यथेष्ट होता है और प्राणियों की हिंसा करने मे कोई हानि नहीं। पर वास्तव में इसे अहिंसा नहीं कहते। और कोई जो कुत्ते अथवा बिल्ली पालते है या चिउँटियों को खाना खिलाते है, परन्तु अपने भाई का गला

घोटने मे तनिक भी सकोच नहीं करते, उनके कार्यों को भी अहिंसा सयुक्त नहीं कहा जा सकता। यह भी एक विपेश विचारने योग्य विषय है कि ससार मे जो ऊँचे ऊँचे भाव हैं, वे भी यदि बिना देश, काल, पात्र विचारे केवल अन्ध भावना से अपनाए जाते हैं तो वही स्पष्ट दोप हो जाते हैं। कितने ही धर्म सम्प्रदायों के सन्यासी इस लिये स्नान नहीं करते कि कहीं जीव हत्या न हो जाय। किन्तु उनसे उत्पन्न हुए कीटाणुओं द्वारा उन्हीं के कितने भाइयों को अस्वस्थ रहना पड़ता है और कितना दुख भोगना होता है, इस पर उनकी एक दृष्टि भी कभी नहीं पडती। पर यह वैदिक धर्मावलम्बी सन्यासी नहीं होते।

यदि देखा जाय कि किसी मनुष्य में ईर्ष्याभाव है ही नही, तो स्पष्ट है कि उसमें अहिंसा भाव प्रतिष्ठित है। कोई-कोई सामयिक उत्तेजना के वशीभूत होकर अथवा किसी कुसस्कार वश या किसी पुरोहित की प्रेरणा से कोई सत्कर्म करते हैं अथवा किसी प्रकार का दान कर सकते हैं, किन्तु उनमें जो यथार्थ सस्कार भर को प्रेम करने वाले हैं, वे किसी के प्रति घृणा भाव नहीं प्रदर्शित करते। ससार में जिन्हें लोकाचार से लोग बड़े बतलाते हैं बहुधा ये बड़े लोग थोड़े से नाम, यश अथवा अर्थ के लिए परस्पर ईर्ष्यान्वित हो जाते हैं। जब तक हृदय मे यह ईर्ष्या भाव रहेगा, तब तक अहिंसा बहुत दूर रहेगी। गो जाति तो निरामिप भोजी है और भेड़ जाति भी। तो क्या वे परम योगी होती हैं—क्या वे परम अहिंसक हैं। कोई भी मूर्ख मनुष्य अपनी इच्छानुसार

कोई विशेष भोजन सामग्री त्याग सकता है। उद्भिज भोजी जीव जन्तु जैसे केवल उद्भिज खाने से कोई विशेष उन्नति नहीं कर पाते, उसी तरह यह मूर्ख खाद्य विशेष के त्यागने से ज्ञानी नहीं हो सकता। जो व्यक्ति निर्दयता से अनाथ बालक बालिकाओं तथा विधवाओं को ठगता फिरता है, लाभ के लिए सब जघन्य कार्य करता है, वह यदि केवल घास खाकर भी जीवन व्यतीत करे, तो भी वह पशु से भी अधिक अधम है। जिसके हृदय में कभी भी दूसरों की अनिष्ट चिन्ता जागृत नहीं होती, जो केवल अपने बन्धु की ही नहीं, वरन् अपने परम शत्रु के सौभाग्य पर भी आनन्दित हो जाता है, वह सारा जीवन सुअर का मांस खाने पर भी प्रकृत भक्त होता है, प्रकृत योगी और सबका गुरु माना जाता है। अतएव यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य क्रिया कलाप केवल अन्त शुद्धि के लिए होता है। यदि कार्य-रूप में बाह्य विषय का विचार मार्गावरोधक बने तो केवल अन्तः शौच का अवलम्ब ग्रहण करना यथेष्ट होता है। उस मनुष्य को धिक्कार है, उस जाति को धिक्कार है, जो मनुष्य अथवा जाति, धर्म के सार को भूलकर अभ्यास वश बाह्य अनुष्ठानों को मृत्यु के समान पकड़ता है और कभी छोड़ना नहीं चाहता। यदि ये अनुष्ठान आध्यात्मिक जीवन के विशेष सहायक हैं, तो ही इनकी उपयोगिता है यह कहना पड़ेगा। पर प्राण-शून्य, आन्तरिकता हीन होजाने पर इन्हें निर्दयता से उखाड़कर फेंक देना चाहिए।

'अनवसाद' अर्थात् बल भक्ति प्राप्ति का और एक साधन है।

श्रुति कहती है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य" अर्थात् यह आत्मा निर्बल द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। यहाँ पर शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की दुर्बलता लक्षित की गई है। "बलिष्ठ" व्यक्ति ही शिष्य बनने योग्य होता है। दुर्बल, शीर्णकाय, जराजीर्ण व्यक्ति बेचारा क्या साधना करेगा। शरीर और मन में जो अद्भुत शक्ति छिपी हुई है, वह किसी प्रकार के योगाभ्यास द्वारा यदि किञ्चिन्मात्र जागृत हो उठी, तो दुर्बल व्यक्ति का एकाएक नाश हो जायगा। 'युवा, स्वस्थकाय, सबल मनुष्य ही केवल सिद्ध हो सकता है। अतएव शारीरिक बल न होने से कोई काम चल नहीं सकता। इन्द्रियाँ संयम की प्रतिक्रिया अत्यंत सबल शरीर ही सह सकता है। अतएव जिसे साधु, भक्त होना है उसे स्वस्थ और सबल होना आवश्यक है। जो अत्यंत दुर्बल हैं वे यदि किसी प्रकार का योगाभ्यास करने की चेष्टा करते हैं, तो वे किसी ऐसी व्याधि के वशीभूत हो जाते हैं, जिसकी औषधि हो ही नहीं सकती अथवा उनका मन भयानक दुर्बलता के वशीभूत हो जाता है।

और जिनके चित्त में दुर्बलता है, वे भी आत्म-लाभ में कृत-कार्य नहीं होते। जो भक्त होने के इच्छुक हैं उन्हें तो सर्वदा प्रफुल्ल-चित्त रहने की आवश्यकता है। पाश्चात्य देशों में आदर्श धार्मिकों के लक्षण माने जाते हैं कि वह कभी भी न हँसे, उनके मुख पर सदैव विषाद के बादल घिरे रहें और मुँह खिंचा-सा हो। ऐसे शुष्क शरीरधारी और उदास मुँहवाले वैद्य के अनुसंधान के विषय हो ० हैं, किन्तु योगी नहीं। सन्तुष्ट चित्त व्यक्ति ही

हो सकता है। दृढ़चेता व्यक्ति ही सहस्रों विघ्न-बाधाओं को पार कर सकता है। माया के दुर्जय जाल को काटने का कठिन कार्य केवल महा-वीरों द्वारा होना ही सम्भव है।

किन्तु हर्ष के स्थान में आमोद प्रमोद में मतवाला न बनना चाहिए। अति हास्य हमारी गम्भीर चिन्तना को कठिन कार्य कर देता है अस्तु अक्षम्य है। इससे मानसिक शक्ति समूह व्यर्थ ही क्षय हो जाता है। इच्छा शक्ति जितनी ही दृढ़ होगी, नाना भावावेशों से वह उतना ही कम विचलित होगी। दुःख जनक गम्भीर भावावेश जितना खराब है वैसा ही यह आमोद प्रमोद। जब मन सामञ्जस्य पूर्ण होता है तो स्थिर शान्त भाव द्वारा तभी सब प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति सम्भव है।

इन साधनों द्वारा क्रमश: ईश्वर भक्ति का उदय होता है।

परा भक्ति—त्याग

अब हम गौण भक्ति की कथा समाप्त करके परा-भक्ति की आलोचना करेंगे और इस सम्बन्ध में परा-भक्ति के अभ्यास-मय में एक विशेष साधन की बात हे बतलावेंगे। सब प्रकार के साधनों का उद्देश्य होना है आत्म शुद्धि। नाम साधन, प्रतीक, प्रतिमादिक की उपासना और अन्यान्य अनुष्ठान केवल आत्मा को शुद्ध करने के लिये ही हैं, किन्तु शुद्धिकारक सर्व साधनों में त्याग ही सर्वश्रेष्ठ है। उसके बिना कोई भी इस परा-भक्ति के साम्राज्य मे प्रवेश नहीं पा सकता। बहुत लोगों के लिये यह त्याग अत्यन्त भयानक व्यापर प्रतीत होता है, किन्तु उसके बिना किसी प्रकार की भी आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है ही नहीं। सब प्रकार के योग मे त्याग आवश्यक है। यह त्याग ही धर्म की सीढ़ी है—सब साधनों का अन्तरंग साधन है। त्याग ही स्वाभाविक धर्म है। जिस समय मनुष्य की आत्मा संसार की सब वस्तुओं को दूर फेंककर गम्भीर तत्व-समूह का अनुसन्धान करता है, जब वह समझ पाता है कि मैं जड़ देह में बँधा हुआ जड़ हुआ जारहा हूँ और क्रमश विनाश की ओर अग्रसर

हो रहा हूँ, और यह समझ कर जड़ पदार्थ से अपनी दृष्टि हटा लेता है, तभी स्वाभाविक, अध्यात्मिक उन्नति आरम्भ होती है। कर्मयोगी सब कर्मफल त्याग देते हैं, वह जो सब काम करते हैं, उनके फलों में अनुरक्त नहीं होते। वे ऐहिक अथवा दैविक किसी प्रकार के लाभ के लिये आग्रह नहीं करते। राजयोगी जानते हैं कि सारी प्रकृति हमारा लक्ष्य है। पुरुष और आत्मा की विचित्र सुख-दुःखानुभूति करते हैं और इसका फल यह होता है कि प्रकृति से वे अपने को नित्य स्वतन्त्र समझते हैं। मनुष्य की आत्मा को जानना होगा कि वह अनन्त काल से आत्मस्वरूप हो रहा है और भूत से उसका सयोग केवल सामयिक, क्षणिक मात्र रहा। राजयोगी प्रकृति के सब सुख दुःखों को भोगकर फेंकने के बाद वैराग्य सीखता है।

ज्ञानयोगियों का वैराग्य सबकी अपेक्षा कठोरतम होता है, क्योंकि पहले ही से उन्हे यह समझ लेना होता है कि यह सत्यवत प्रतीत होनेवाली सारी प्रकृति मिथ्या है। उसे समझना चाहिए कि प्रकृति में जो कुछ भी शक्ति का प्रकाश दिखलाई देता है, वह सब आत्मा की शक्ति है, प्रकृति की नहीं। प्रारम्भ ही से जानना होता है कि आत्मा मे ही सब प्रकार का ज्ञान अन्तर्निहित रहता है, प्रकृति मे कुछ भी नहीं। अतएव विचारजनित धारणा के बल से उसे एकबार सारे प्राकृतिक बन्धनों को तोड़ फेंकना है। प्रकृति और सारे प्राकृतिक पदार्थों से उसे अपनी दृष्टि फेर लेना चाहिए और छाया के समान समझकर उन्हें अपने सामने से हटा देना

चाहिए। उसे स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने की चेष्टा करनी चाहिए।

सब प्रकार के वैराग्यों से भक्ति-योगी का वैराग्य ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसमें किसी प्रकार की कठोरता नहीं, कुछ छोड़ना नहीं पड़ता, कोई कुछ छीन नहीं लेता—जबरदस्ती हमें कोई त्याग नहीं करना पड़ता। भक्त का त्याग अत्यन्त सहज—अत्यन्त स्वाभाविक होता है। इस प्रकार का त्याग कभी कभी विकृत रूप मे भी हमारे चारों ओर दिखलाई पड़ता है। एक व्यक्ति किसी स्त्री को प्रेम करना प्रारम्भ करता है, कुछ दिन बाद वह और किसी को प्रेम करने लगता है, तब उस पहली स्त्री का ध्यान उसके हृदय से जाता रहता है। धीरे-धीरे, अत्यन्त सहज स्वभाव से, उस स्त्री का ध्यान उस पुरुष के हृदय से विलुप्त हो जाता है और उस स्त्री का अभाव उसके हृदय को कोई क्लेश नहीं पहुँचाता। ऐसे ही यदि एक स्त्री किसी पुरुष को प्रेम करना प्रारम्भ करती है और फिर दूसरे को प्रेम करने लगती है तो उस पहले पुरुष का ध्यान सहज ही उसके हृदय से जाता रहता है। कोई मनुष्य अपने नगर मे अत्यन्त प्रेम करता है, क्रमश वह अपने देश को प्रेम करना प्रारम्भ करता है तो अपने नगर के प्रति जो उसे प्रगाढ़ प्रेम था, वह धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। और यदि किसी ने सारे ससार को प्रेम करना सीख लिया है तो उसका स्वदेशानुराग—अपने देश के लिये प्रबल उन्मत्त प्रेम भी, प्रशान्त हो जाता है और इससे उसे कोई कष्ट भी

नहीं होता और न कोई जोर जबरदस्ती ही करनी पड़ती है। अशिक्षित लोग इन्द्रिय सुख में उन्मत्त रहते हैं। शिक्षित होने पर यही लोग ज्ञान-चर्चा में अधिक आनन्द प्राप्त करने लगते हैं। उस समय उन्हें विषयादि भोगों मे उतना सुख नहीं मिलता। कुत्ते अथवा शेर को खाद्य मिलने पर वह जिस स्फूर्ति के साथ भोजन करते हैं, मनुष्य उस उत्तेजित-स्फूर्ति से नहीं खाते और मनुष्य बुद्धिबल द्वारा जो नाना विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है और नाना प्रकार के कार्य करता है इनसे जो सुख अनुभव करता है, वह कुत्ते को वह स्वप्न में भी नहीं मिलता।

पहले इन्द्रियों द्वारा सुख की अनूभूति होती है, किन्तु ज्योंही जीव इस पशुता से ऊपर उठने लगता है—उन्नति प्रारम्भ करता है, त्योंही उसकी इन निम्न जातीय सुखों के सम्भोग की इच्छा नहीं रहती। मनुष्य समाज मे भी प्राय: यही देखा गया है कि जिसकी जितनी प्रवृत्ति पशु के समान होती है। वह उतनी ही तीव्रता से इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता है तथा शिक्षादि में वह जितनी उन्नति करता है, उसका बुद्धिवृत्त उतना ही परिचालित हो उठता है, जिससे उसे सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयों में सुखानुभूति प्राप्त होती है। इसी प्रकार जब मनुष्य बुद्धि अथवा मनोवृत्ति से भी ऊँचे उठने लगता है—जब वह आध्यात्मिकता और भगवत्-तत्वानुभूति की भूमि से उन्नति शिखर पर चढ़ने लगता है तो वह एक ऐसी आनन्द की अवस्था को प्राप्त करता है, जिसकी तुलना में इन्द्रिय तथा बुद्धि परिचालन जनित सुख शून्य के

समान प्रतीत होने लगते हैं। जब चन्द्रदेव उज्ज्वल किरणमाला विकसित करते हैं तो तारागण निष्प्रभ हो जाते हैं और सूर्य के प्रकाश करते ही चन्द्रमा भी निष्प्रभ हो जाता है। भक्ति के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता है, उससे किसी का कुछ नाश नहीं होता। जैसे किसी क्रमश: बढ़ते हुए प्रकाश के सामने अल्पोज्ज्वल प्रकाश स्वभावत निष्प्रभ होजाता है और अन्त में क्रमश: अन्तर्हित होजाता है। इसी प्रकार भगवत् प्रेमोन्मत्तता के सन्मुख इन्द्रियवृत्ति और बुद्धि-वृत्ति परिचालन जनित सारे सुख स्वभावत निष्प्रभ होजाते हैं। यह ईश्वर-प्रेम क्रमश: बढ़कर एक ऐसा भाव धारण करता है, जिसे परा-भक्ति कहते हैं। तभी इस प्रेमी पुरुष के लिए किसी प्रकार के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती—शास्त्र से कोई मतलब नहीं रहता। प्रतिमा, मन्दिर, भजनालय, विभिन्न धर्म सम्प्रदाय, देश, जाति यह सब छोटे सीमावद्ध भाव उससे छूट जाते हैं। कुछ भी उसे बाँध नहीं सकता—कोई भी उसकी स्वाधीनता नहीं नष्ट कर सकता। जहाज जब हठात् किसी चुम्बक की शिला के पास पहुँचता है तो उसका सारा लोहा निकल कर चुम्बक से चिपक जाता है और लकड़ी के तख्ते पानी पर तैरने लगते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की कृपा, आत्मा के स्वरूप-प्रकाश करने में जितने विघ्न हैं सब को हर लेती है और तब वह मुक्त हो जाता है। अतएव भक्ति-लाभ के उपाय स्वरूप इस वैराग्य साधन में कोई कठिनता नहीं, कोई भी

अथवा शुष्क भाव या किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं करनी पड़ती है। भक्त को अपने हृदय के किसी भाव को भी नहीं दबाना पड़ता। वरन् उन्हीं सब भावों को प्रबल करके भगवान की ओर परिचालित करना होता है।

भक्त का वैराग्य प्रेम का उत्पादक होता है

हम सर्वत्र प्रकृति में प्रेम ही प्रेम पाते हैं। समाज में हमें जो कुछ भी सुन्दर और महान मिलता है, वह सब इसी प्रेम से प्रादुर्भूत हुआ है और उसमें जो पैशाचिक व्यापार दिखाई देते हैं, वह सब उसी एक प्रेम भावना के केवल विकृतरूप मात्र हैं। पति-पत्नी में विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम तथा अत्यंत नीच काम प्रवृत्ति दोनों ही उसी एक प्रेम के दो विकास हैं। एक ही भाव के विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूप हो जाते हैं। इसी प्रेम को अच्छी या बुरी ओर परिचालित करने का फल यह होता है कि कोई तो दरिद्र को अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है और कोई अपने भाई का भी गला काटकर उसका सर्वस्व अपहरण कर लेता है। यह दूसरा पुरुष जैसे अपने को प्रेम करता है, उसी प्रकार पहला, दूसरों को प्रेम करता है। दूसरे ने अपने प्रेम को बुरी ओर परिचालित किया और पहले ने उसका ठीक प्रयोग किया। जो अग्नि हमारे भोजन पकाने में सहायक है, वही एक बच्चे के शरीर को जलाने का कारण भी हो सकती है। इसमें अग्नि का कोई दोष नहीं, यह तो उसके व्यवहार करने के फल हैं। अतएव यही प्रेम, यही प्रबल मिलन-इच्छा दो व्यक्तियों

को एकप्राण हो जाने की यह प्रवल इच्छा और तदुपरान्त सबको उसी एक ईश्वर रूप में विलीन होने की प्रबल उत्कण्ठा सर्वत्र उत्तम अथवा अधम भाव से प्रयुक्त पाया जाता है।

भक्तियोग प्रेम के उच्चतम विकास का विज्ञान स्वरूप है। यह हमको प्रेम को यथार्थ पथ में परिचालित करने, उसे अपने आधीन रखने उसके सद्व्यवहार करने, उसे नए रास्ते पर दौड़ाने और इसके श्रेष्ठ तथा उत्तम फल स्वरूप जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करने में सहायक पथ प्रदर्शन करता है। भक्तियोग कुछ त्याग करने की शिक्षा नहीं देता, केवल यही कहता है कि—"उसी परमपुरुष में आसक्त हो।" और जो परमपुरुष के प्रेम में उन्मत्त रहते हैं स्वभावत उन्हे नीच विषयों में कोई आसक्ति नहीं रहती।

"मैं तुम्हारे सम्बन्ध में और कुछ नहीं जानता, केवल यही जानता हूँ कि तुम मेरे हो। तुम सुन्दर हो, अरे, तुम अत्यन्त सुन्दर हो, तुम स्वय सौंदर्य स्वरूप हो।" भक्तियोग ग कहते हैं—"हे मानव! सुन्दर वस्तु के प्रति तुम स्वभावत आकर्षित होते हो। भगवान परम सुन्दर हैं। तुम उनको प्राणों से प्रेम करो।" मनुष्य के मुख में, आकाश मे, तारों में अथवा चन्द्रमा में जो सौन्दर्य-विकास देखा जाता है वह कहाँ से आता है? वह उसी भगवान के सर्वतो मुखी प्रकृत सौन्दर्य का आंशिक प्रकाशमात्र है। "तस्य भासा सर्वमिद विभाति" अर्थात् "उसी के प्रकाश करने पर यह सब प्रकाशित होता है। भक्ति की इस ऊँची भूमि पर तुम स्थिर हो तो वह अनायास तुम्हें तुम्हारा क्षुद्र अपनापन

भुला देगा। संसार की क्षुद्र स्वार्थपरता तथा आसक्ति का त्याग कर दो। अपने मन से यह निकाल दो कि मनुष्य जाति ही तुम्हारी उच्चतर कार्य-प्रवृत्ति का एक लक्ष्य है। साक्षी के समान प्रकृति के सारे व्यापारों को देखो। मनुष्य के प्रति आसक्ति शून्य हो जाओ और देखो कि संसार में यह प्रबल प्रेम-प्रवाह क्या काम करता है? कभी-कभी धक्का लगेगा पर यह भी उसी परम प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा का आनुसंगिक व्यापार होता है। कभी-कभी भीषण द्वन्द्व होगा, कभी-कभी पदस्खलित भी हो सकता है, परन्तु यह सब उसी परम प्रेम की सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयास ही होगा। चाहे द्वन्द्व हो, चाहे संघर्ष—तुम साक्षीस्वरूप दूर खड़े रहो। जब तुम इस संसार के प्रवाह में पड़ जाओगे, तभी तुम यह धक्के खाओगे। किन्तु जब तुम उसके बाहर केवल साक्षी स्वरूप खड़े रहोगे तो देखोगे कि प्रेम स्वरूप ईश्वर अनन्त रूप में प्रकाशित होता है।

"जहाँ कहीं भी कुछ आनन्द मिलता है, वह घोर विषयानन्द होने पर भी, उसी अनन्त आनन्दस्वरूप भगवान का अंश है, यही समझना होगा।" अत्यन्त नीचतम आसक्ति में भी भगवत्-प्रेम का बीज छिपा रहता है। संस्कृत भाषा में भगवान का 'हरि' एक नाम है। इसका अर्थ यह है कि 'वे सबको अपनी ओर खींचते हैं'। वास्तव में केवल वही हमारे प्रेम के उपयुक्त पात्र हैं। हम इधर उधर आकर्षित होते हैं। किन्तु हमें आकर्षित करता कौन है? वही हमें अपनी गोद में बुलाते हैं—क्रमागत आकर्षित

करते हैं। प्राणहीन जड़ पदार्थ क्या कभी चैतन्य आत्मा को आकर्षित कर सकता है? कभी नहीं। किसी सुन्दर मुख को देखकर कोई उन्मत हो जाता है, क्या आप समझते हैं कि उन मुख के जड़ परिमाणुओं को देखकर वह पागल हो गया? कभी नहीं। इन जड़ परिमाणु समूहों में अवश्य ही कोई ऐश्वरिक शक्ति है, निश्चय ही कोई भगवान के प्रेम की क्रीड़ा विद्यमान है। अज्ञानी लोग इसे नहीं जानते। किन्तु जानते हुए या अज्ञानवश यह उसी के द्वारा, केवल उसी शक्ति के द्वारा आकृष्ट होते हैं। अस्तु, देखा गया है कि अत्यन्त नीचतम आसक्ति भी मनुष्य पर जो प्रभाव डालती है, वह प्रभाव भी ईश्वरीय प्रभाव की एक किरण ही समझो। वृहदारण्यक में लिखा है—"न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति" अर्थात् "हे प्रियतमे। पति के लिये पति को कोई प्यार नहीं करता। किन्तु पति की अन्तरस्थ आत्मा के लिये ही पति प्रिय होता है। प्रेमिका पत्नियाँ इस रहस्य को समझती भी हैं और नहीं भी समझतीं, परन्तु फिर भी उक्त मर्म सत्य ही है। "न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्य कामाय जाया प्रिया भवति" अर्थात् "हे प्रियतमे! पत्नी के लिये पति पत्नी का प्यार नहीं करता किन्तु पत्नी की अतरस्थ आत्मा के ही लिए पत्नी प्रिया होती है"।

इसी प्रकार कोई भी अपनी सन्तान को या और किसी को उसके लिये प्रेम नहीं करता, उसमें अन्तरस्थ आत्मा के लिये ही

उसका प्यार होता है। भगवान एक बड़े चुम्बक पत्थर के समान हैं, हम लोग लोहे के छोटे-छोटे खडों के समान। हम सभी सर्वदा उसके द्वारा आकृष्ट होते रहते हैं—हम सभी उसकी प्राप्ति के लिये चेष्टा करते हैं। ससार म जो नाना प्रकार की चेष्टायें होती हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य स्वार्थ ही नहीं हो सकता। अज्ञानी लोग नहीं जानते कि उनके जीवन का लक्ष्य क्या है? वास्तव में वे क्रमश उसी परमात्मा रूप बड़े चुम्बक की ओर अग्रसर होते हैं। हमारे इस कठोर जीवन सग्राम का लक्ष्य है उसके निकट पहुचना और उसके साथ एकीभूत होना।

भक्तियोगी इस जीवन सग्राम का अर्थ जानते हैं। वह इस सग्राम को पार करके आये हैं—अतएव वे जानते हैं कि उसका लक्ष्य क्या है? इसी कारण से वे अपने प्राणों की बाजी लगा कर यही इच्छा करते हैं कि हम विषयाकर्षण के आवर्त में पड़कर गोते न खाने वरन् सब आकर्षणों के मूल-कारण स्वरूप 'हरि' के निकट एक बार पहुँच जावें। भक्त का त्याग यही है—भगवान के प्रति यह महान आकर्षण उसकी और सब आसक्ति का नाश कर देता है। यह प्रबल अनन्त प्रेम उसके हृदय में प्रवेश करके अन्यान्य आसक्तियों को वहाँ नहीं रहने देता। तब और कोई आसक्ति वहाँ कैसे ठहर सकती है?

उस समय भक्त स्वयम् भगवान-रूपी प्रेम-समुद्र के जल में अपने हृदय को परिपूर्ण पाता है तथा क्षुद्र प्रेम का वहाँ कोई स्थान नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि भक्त का वैराग्य, अर्थात्

भगवान के अतिरिक्त और सब विषयों में अनासक्ति, भगवान के प्रति उसका परम अनुराग उत्पन्न होने पर आप ही आप आ जाता है।

परा-भक्ति की प्राप्ति के लिये इस प्रकार के भाव में प्रस्तुत रहना आवश्यक है। इस वैराग्य लाभ से परा-भक्ति के उच्चतम शिखर पर जाने का द्वार खुल जाता है। तभी हम समझना शुरू करते हैं कि परा-भक्ति क्या है। और जो परा-भक्ति के राज्य में प्रवेश करते हैं, एकमात्र उन्हीं को ही यह कहने का अधिकार है कि प्रतिमा पूजा अथवा वाह्य अनुष्ठानादि की कोई आवश्यकता नहीं। केवल वही उस कथित परम प्रेमावस्था को प्राप्त होते हैं। जहाँ सब मनुष्य भ्रातृ-भाव से देखे जाते हैं और लोग तो केवल 'भ्रातृ भाव' 'मातृ भाव' चिल्लाते हैं और उसका भेद नहीं पाते। महान् प्रेम समुद्र तब उनमें प्रवेश करता है और वे मनुष्य के भीतर मनुष्य नहीं देखते वरन् सर्वत्र ही वे अपने प्रियतम को देखते हैं। जिसके मुख की ओर वह देखते हैं, उसी के भीतर वे हरि का प्रकाश पाते हैं। सूर्य अथवा चन्द्र का प्रकाश उसी का प्रकाशमात्र है। जहाँ कहीं कुछ भी सौंदर्य अथवा महत्व मिलता है, उनकी दृष्टि में वह सब भगवान का ही है। इस प्रकार के भक्त अब भी संसार में हैं। कभी भी संसार इस प्रकार के भक्तों के बिना नहीं होता। इसी प्रकार के व्यक्ति साँप के काटने पर भी यही कहते हैं कि हमारे प्रियतम के पास से यह प्रेम-दूत आया है। केवल इसी प्रकार के व्यक्ति को अधिकार

है कि वह सार्वजनिक भ्रातृभाव के सम्बन्ध में कोई बात कहे। उनके हृदय में कभी क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या का उदय नहीं होता। बाह्य पदार्थ, इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ सब कुछ उसके लिये विलुप्त हो जाता है। उनको क्रोध कैसे आ सकता है, जब वे प्रेम के बल से इन्द्रियों के परे सत्य को सर्वदा देखते रहते हैं।

भक्ति-योग की स्वाभाविकता और उसका रहस्य

अर्जुन ने भगवान कृष्ण से पूछा कि * जो सर्वदा अवहित होकर (निरन्तर जुटकर) तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में से कौन अधिक श्रेष्ठ योगी है ? श्रीकृष्ण भगवान

---

* अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

श्री भगवान उवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य युक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तत्तमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तम् पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलम् ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धय।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्॥
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः॥

उत्तर देते हैं—"जो अपने मनको मुझमें लय करके नित्य युक्त होकर परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं, वही मेरे श्रेष्ठ उपासक हैं—वही अधिक श्रेष्ठ योगी हैं और जो निर्गुण, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, निर्विकार, नित्यस्वरूप का इन्द्रिय सयम के साथ और सब विषयों में समबुद्धि के साथ उपासना करते हैं, वे सर्वभूतहितरत व्यक्ति भी मुझे पा लेते हैं, किन्तु जिनका मन अव्यक्त में आ सकता है, उन्हें अधिक कष्ट होता है, क्योंकि देहाभिमानी पुरुष बड़ी कठिनाई से इस अव्यक्त गति को प्राप्त होता है, किन्तु जो लोग अपने सब कर्म मुझको समर्पित करके, मत्परायण होकर, मेरा ध्यान और उपासना करते हैं मैं शीघ्र ही उन्हें जन्म मृत्यु के ससार-सागर से उद्धार करता हूँ, क्योंकि उनका मन सदैव ही मुझमें सम्पूर्ण रूप से आसक्त रहता है।"

इस स्थान पर ज्ञान और भक्ति दोनों ही योगों को लक्षित किया गया है और उद्धृत श्लोकार्थ में दोनों ही के लक्षण बतलाए गए हैं। ज्ञान-योग अवश्य ही अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग है। तत्व विचार इसके प्राणों के समान है। और आश्चर्य का विषय तो यह है कि जो सब भावों मे ज्ञान-योग के आदर्शानुकूल चले, वही समर्थ

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ॥
श्रीमद्भगवद्गीता १२ अध्याय १० श्लोक ॥

माना गया है। किन्तु वास्तविक ज्ञान-साधन बड़ा कठिन है—इसमें बड़ी विपदाशंकाएँ हैं

संसार में दो प्रकार के मनुष्य मिलते हैं—एक की तो आसुरी प्रकृति होती है, जो शरीर को सुख में रखना ही इस जीवन का परम उद्देश्य मानते हैं और दूसरे की दैव प्रकृति जो शरीर को, केवल किसी विशेष उद्देश्य के साधन का उपाय मात्र मानते हैं और जो समझते हैं कि शरीर आत्मोन्नति साधन का विशेष यन्त्र मात्र है। शैतान अपने उद्देश्य साधन के लिए शास्त्रोक्तियाँ उद्घृत कर सकता है, करता है। अतएव ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्ति के सत्कार्य में अनल उत्साह देता है, उसी प्रकार असाधु व्यक्ति के कार्यों का समर्थन कर सकता है। यही ज्ञानयोग में बड़ी विपदाशंका है, किन्तु भक्तियोग अत्यन्त स्वाभाविक और मधुर है। भक्त ज्ञानयोगी के समान इतना ऊँचा अनायास नहीं उठ जाता कि उसके गहरे गिरने की आशंका हो। पर यह समझे रहना चाहिए कि साधक चाहे जिस पथ का अवलम्बन करे, किन्तु जब तक उसके सब बन्धन मुक्त नहीं होवें, तब तक वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता।

निम्नोद्‌धृत श्लोकों से मालूम होता है कि अनेक भाग्यवती गोपियों की जीवात्मा का बन्धनस्वरूप पाप-पुण्य कैसे क्षय हुआ ? "भगवान के चिन्ताजनित परम आह्लाद में उनके सारे पुण्य कर्म जनित बन्धन कट गए और उनके अप्राप्ति जनित महादुःख सागर में उनके सब पाप धो गए। तभी इन गोपियों

को मुक्ति लाभ हुआ।"* इस शास्त्रवाक्य से और भी समझा जा सकता है कि भक्तियोग का रहस्य यही है कि मनुष्य के हृदय में किस प्रकार की वासना अथवा भाव है, वह स्वयं खराब नहीं, इनको धीरे धीरे अपने वश में करके हमको क्रमशः इन्हें ऊँचे-से-ऊँचा उठाना होगा, जब तक वह चरम सीमा तक न पहुँच जायें।

उनकी सर्वोच्च गति भगवान हैं और सब गतियाँ तो निम्न श्रेणी की होती हैं। हमारे जीवन में सुख और दुख बार-बार घूमते रहते हैं। जब कोई मनुष्य धन अथवा इसी प्रकार की कोई सांसारिक वस्तु नहीं पाता और इसलिये दुख अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिये कि वह अपनी प्रवृत्ति को खराबी की ओर झुकाता है। तथापि दुख की आवश्यकता भी है, प्रयोजनीयता भी है। संसार में यदि—"मैं भगवान को कैसे पाऊँगा? उस परमपुरुष की प्राप्ति कब होगी?" यह कहकर कोई मनुष्य दुःख से अस्थिर हो जाता है तो यही दुख उसकी मुक्ति का कारण हो जाता है। यदि गिन्नी पड़ी पाने पर तुम्हें आनन्द होता है तो तुम्हें समझना चाहिये कि तुम अपनी आनन्दवृत्ति को अधोगति की ओर परिचालित कर रहे हो। उसीको उच्चतर

---

*तच्चिन्ता विपुलाह्लाद क्षीणपुण्य चया तथा
तदप्राप्ति महद्दुःख विलीनाशेष पातका
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्म स्वरूपिणं
निरुच्छ्वासतया मुक्ति गतान्या गोपकन्यका
—विष्णुपुराण ५ अंश १३ अध्याय २१, २२ श्लोक

विषयों में प्रेरित करने से हमारे सर्वोच्च लक्ष्य भगवान के चिन्तन में आनन्द मिलेगा। अन्यान्य भावों के सम्बन्ध में भी यही बात है। भक्त कहता है—"इनमें से कोई भी नीच नहीं" और वह उन सबको ईश्वर की ओर घुमाकर ले जाता है।

भक्ति की अवस्थायें

भक्ति नाना प्रकार से प्रकाशित होती है, पहले तो श्रद्धा, लोग मन्दिर और तीर्थ-स्थानों के प्रति इतना श्रद्धा-म्पन्न क्यों होते हैं ? क्योंकि इन सब स्थानों में उसी एक की पूजा ाती है, इन सब स्थानों पर जाने से उसी एक के भाव का दीपन होता है, इन सब स्थानों में उसी की सत्ता है। सब देशों ा लोग अपने धर्माचार्यगणों के प्रति इतना श्रद्धासम्पन्न क्यों ोते हैं ? क्योंकि वे सब उसी एक भगवान की महिमा का प्रचार करते हैं। क्या मनुष्य उनके प्रति बिना श्रद्धासम्पन्न हुए रह सकता है ? इस श्रद्धा की जड़ है प्रेम। हम जिससे प्रेम नहीं करते उसके प्रति हम श्रद्धासम्पन्न भी नहीं हो सकते। फिर आती है प्रीति—भगवत् चिन्तन में आनन्दानुभूति। मनुष्य विषयों में कितना अपार आनद अनुभव करते हैं। वे इन्द्रिय सुखकर वस्तुओं के लिये सर्वत्र जा सकते हैं, महान विपत्तियों का सामना कर सकते हैं, भक्त को भी ऐसा ही तीव्र प्रेम चाहिए। भगवान की ओर भी हमें इसी प्रेम का मुँह मोड़ना होगा। तदुपरान्त विरह—प्रियतम के न मिलने का महादुःख। यही दुःख ससार के सब दुःखों से मधुर है—अत्यन्त मधुर है। जब मनुष्य "उसको न

पा सकूँगा, जो जानना चाहता था न जान सकूँगा" कहकर अति-शय व्याकुल और उससे प्रादुर्भूत यन्त्रणा से अधीर और उन्मत्त हो जाता है तो समझेंगे कि विरह आया। मन की इस अवस्था मे प्रियतम के बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता पार्थिव प्रेम में भी, उन्मत्त प्रेमी और प्रेमिकाओं में भी यही विरह प्राय: पाया जाता है। जिन स्त्री-पुरुषों में यथार्थ में परस्पर प्रेम होता है, उन्हें बहुत बुरा लगता है, यदि उन लोगों के आस पास कोई ऐसा हो, जिसे वे प्रेम नहीं करते। इसी प्रकार जब परा-भक्ति हृदय पर अपना अधिकार जमा लेती है तो जो भक्ति के विरोधी विषय हैं, वे मन को बुरे लगने लगते हैं। "तमेवैकं जानथ आत्मं न मन्या" अर्थात् "उसी के विषय की, केवल उसी के विषय की चिन्तना करना और सब बातें त्याग देना"। जो लोग उसके सम्बन्ध की कथा वार्ता करें तो भक्त लोग उन्हें बन्धु कहते हैं और जो अन्य विषय की चर्चा करें तो शत्रु के समान उनको प्रतीत होते हैं। जब भक्त की यह अवस्था हो जाती है कि वह समझता है कि यह शरीर केवल उसी की उपासना के लिये है तो जान लेना चाहिए कि वह भक्ति की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ गया। उस समय बिना उसके उसे एक मुहूर्त भी जीवन धारण करना असम्भव प्रतीत होता है और उसी प्रियतम की चिन्तना हृदय में वर्तमान होने से वे इस जीवन का सुख मानते हैं। इस अवस्था का शास्त्रीय नाम है 'तदर्थ प्राणस्थान।

तदीयता—"भक्ति के मत से साधक जब सिद्धावस्था को प्राप्त

होजाता है तो यही तदीयता होती है। जब वह भगवत्पादस्पर्श से पवित्र और कृतार्थ होजाता है तो उसकी प्रकृति विशुद्ध हो जाती है—सम्पूर्णतया परिवर्तित होजाती है। उस समय उसके जीवन की सारी साघ पूर्ण हो जाती है। तथापि इस प्रकार के भी भक्त हैं—जो उसकी उपासना के लिए ही जन्म धारण करते हैं। इस जीवन में उन्हें यही एक सुख है, उसे छोडकर और कुछ वे नहीं चाहते। "आत्मारामश्च मुनयो, निर्ग्रन्थाहप्युरुक्रमे कुर्वन्त्ये हेतुकीं भक्तिं इत्थम्भूत गुणो हरि" अर्थात् हे राजन्! हरि मे ऐसे मनोहर गुण हैं कि जो एक बार परमतृप्ति पा जाते हैं, जिनकी हृदय ग्रन्थि कट चुकी है, वे भी भगवान की निष्काम भक्ति कर सकते है। (यसर्वेदेवा नमन्ति मुमुक्षुर्नौब्रह्मवादिनश्च) (अर्थात् जिस भगवान की सब देवता गण मुमुक्षु और ब्रह्मवादी उपासना करते हैं।) प्रेम का प्रभाव ही यही है। जब 'हम और हमारा' ज्ञान भूल जाता है, तभी यह तदीयता प्राप्त होती है। तब उसके लिए सर्वस्व पवित्र हो जाता है, क्योंकि सब कुछ उसका प्रियतम है। सासारिक प्रेम में भी प्रेमी के प्रति प्रिय की सब वस्तुएँ पवित्र और प्रिय लगती हैं। अपने प्राणघन के बदन का एक टुकड़ा वस्त्र भी उसे प्यारा लगता है। इसी प्रकार जो भगवान को प्रेम करता है, वह सारे ससार को प्रेम करता है, क्योंकि सारा जगत उसी का तो है।

सार्वजनिक-प्रेम

पहले जो समष्टि को प्रेम करना नहीं सीखता, वह व्यष्टि से भी प्रेम नहीं कर सकता। ईश्वर ही समष्टि है—सारे जगत् को यदि एक अखण्डरूप में चिन्तना की जाय तो यही ईश्वर चिन्तन होता है, और जगत् को जब पृथक्-पृथक् रूप में देखा जाता है, तभी वह जगत्—व्यष्टि रह जाता है। समष्टि को—उसी सर्वव्यापी को जैसे एक अखण्ड वस्तु में क्षुद्रतर अनेक वस्तु समूह हो सकते हैं, ऐसा मानकर जब प्रेम किया जाता है, तो सारे ससार को प्रेम करना सम्भव हो जाता है। भारतीय दार्शनिक व्यष्टि से सतुष्ट नहीं हो जाते, व्यष्टि की ओर वे क्षिप्र-भाव से दृष्टिपात करते हैं और फिर व्यष्टि को अथवा उन सब विशेष भावों को जो सामान्य भाव के अन्तर्गत है, लेकर उनके अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाते हैं। सब जीवों में इसी सामान्य भाव का अन्वेषण करना ही भारतीय दर्शन और धर्म का लक्ष्य है। जिसे जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। उसी समष्टिभूत को—एक को, निरपेक्ष को, सब भूतों मे अन्तर्गत सामान्य भाव स्वरूप पुरुष को जानना ही ज्ञानी का लक्ष्य होता है। जिसे प्रेम करने से इस सचराचर विश्व ब्रह्माण्ड के प्रति प्रेम उत्पन्न हो

जाय, भक्त उसी सर्वान्तर्यामी प्रधान पुरुष की उपलब्धि करना चाहता है और योगी उसी सर्व मूलीभूत शक्ति पर विजय प्राप्त करना चाहता है, जिसे जीतकर सारा ससार विजित हो जाता है। इतिहास देखने से पता लगता है कि भारतवासियों के मन की गति चिरकाल से जड विज्ञान, मनोविज्ञान, भक्ति, तत्व-दर्शन इत्यादि सब विभागों मे जो एक सर्वगत तत्व विराजमान है, उसी के अनुसधान मे व्यस्त रही है। भक्त धीरे धीरे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि यदि तुम एक के बाद दूसरे को प्रेम करने लगते हो, तो तुम अनन्त काल मे उत्तरोत्तर अधिक सख्या में लोगों को प्रेम कर सकोगे, परन्तु सब लोगों को एक साथ प्रेम करने मे समर्थ नहीं हो सकते। किन्तु अन्त मे जब यह सत्य-सिद्धात मालूम हो जायगा कि ईश्वर सब प्रेम का समष्टि स्वरूप है, मुक्त, मुमुक्षु, बद्ध, ससार की सब जीवात्माओं आदर्श समीष्ट ईश्वर ही है, तभी तुम्हारे लिये सार्वजनिक-प्रेम सभव होगा। भगवान समष्टि हैं और यह सब परिदृश्यमान जगत भगवान का ही परिछिन्न भाव है, उसी की अभिव्यक्ति मात्र है। समष्टि को प्रेम करने पर सपूर्ण जगत् के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जायगा—तभी जगत् को प्रेम तथा जगत् का हित साधन सब सहज हो जायगा। पहले भगवत् प्रेम द्वारा हमें इस शक्ति को प्राप्त करना होगा, नहीं तो जगत् का हित साधन भी परिहास का विषय बन जायगा। भक्त लोग कहते हैं— "सब कुछ उसी का है। वह हमारा प्रियतम है, मैं उसे प्रेम करता हूँ।"

इस प्रकार भक्त के लिए सब कुछ पवित्र हो जाता है, क्योंकि

सब कुछ है तो उसी का, सब उसी की तो सन्तान हैं, उसी के तो अखण्ड स्वरूप हैं और उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, तो दूसरे के प्रति हिंसा कैसे हो सकती है? दूसरे को कैसे नहीं प्रेम करोगे? भगवत प्रेम उत्पन्न हो जाने पर उसी के साथ उसके निश्चित फलस्वरूप सर्वभूतों से प्रेम हो जायगा। हम जितना ही भगवान की ओर अग्रसर होंगे, उतना ही सब वस्तुओं को उन्हीं के भीतर पाएँगे। जब जीवात्मा यह परा प्रेमानन्द प्राप्त करेगा। तभी वह ईश्वर को सर्वभूतों में देखेगा—हमारा हृदय प्रेम की अनन्त धारा का श्रोत बन जायगा और जब हम इस प्रेम की एक और उच्चतर सीढ़ी पर पहुँचेंगे तो इस जगत के सारे क्षुद्र पदार्थों में जो पार्थक्य है, हमारी दृष्टि से विलुप्त हो जायगा। तब मनुष्य को भक्त मनुष्य नहीं मानता, उसे ईश्वर समझता है, पशु को भी पशु न मानकर ईश्वर ही समझता है, यहाँ तक कि शेर को भी शेर नहीं समझता, उसे भी भगवान का ही स्वरूप समझता है। इस प्रकार की इस प्रगाढ़ भक्ति की अवस्था में सब प्राणी, सब वस्तुएँ हमारी उपास्य हो जाती हैं। "एवं सर्वेषु भूतेषु भक्ति रव्यभिचारिणी। कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्व भूतमय हरि" अर्थात् "हरि को सर्व प्राणियों में स्थित जानकर ज्ञानी को सब प्राणियों के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति का प्रयोग करना चाहिए।" इस प्रकार के प्रगाढ़, सर्वग्राही प्रेम का फल होता है, सम्पूर्ण आत्मनिवेदन। तब यह विश्वास हो जाता है कि संसार में अच्छा बुरा कुछ नहीं है—हमारा अनिष्टकारी

कुछ भी नहीं है (अप्रातिकूल्य)। तभी वह प्रेमिक दुःख आने पर कहता है कि "दुःख ! तुम्हारा स्वागत है।" कष्ट आने पर कहता है "आओ कष्ट ! तुम भी हमारे प्रियतम के पास से आए हो।" सर्प के आने पर वह उसका भी स्वागत करता है। मृत्यु के आने पर इस प्रकार भक्त हँसते हुए उसे प्रणाम करता है और कहता है—"मैं धन्य हूँ, मेरे पास यह सब आते हैं, आवो, सब कुछ आओ।" भगवान और जो कुछ उनका है, उस सबके प्रति प्रगाढ़ प्रेम से उत्पन्न इस पूर्ण निर्भर-अवस्था में भक्त के लिए सुख-दुःख में कोई भेद नहीं रहता। वह दुःख से कोई विरक्ति नहीं अनुभव करता। और प्रेमस्वरूप भगवान की इच्छा पर इस प्रकार द्विविधाशून्य निर्भर रहना क्या महावीरत्वपूर्ण तथा क्रिया-कलाप जनित यश की अपेक्षा अधिक वाञ्छनीय नहीं है ?

अधिकांश मनुष्यों के लिए शरीर ही सर्वस्व है। उनकी निगाहों में शरीर ही सारे ससार के बराबर है और शरीर का सुख ही उन्हें सब कुछ है। यही शरीर और उसके भोग्य वस्तुओं के उपासना स्वरूपी शैतान हम सब लोगों में रहता है। हम लोग खूब लम्बी चौड़ी बातें करते हैं, बड़े ऊँचे ऊँचे विषयों की आलोचना कर सकते हैं, किन्तु फिर भी हम गिद्ध ही बने रहते हैं। चाहे जितना ऊँचे उड़ें परन्तु गिद्ध के समान हमारी दृष्टि नीचे के मास खण्ड पर ही रहती है। पूछो, शेर से हमारे शरीर की रक्षा करने का क्या प्रयोजन है ? क्या हम यह शरीर शेर को अर्पित नहीं कर सकते ? इससे व्याघ्र की तृप्ति होगी

यह आत्मोत्सर्ग और उपासना से विभिन्न भी नहीं। क्या तुम अहंभाव को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर सकोगे ? प्रेम-धर्म की यह चरम सीमा है और विरले ही इस अवस्था की प्राप्ति कर पाते हैं। परन्तु जब तक मनुष्य सदैव ही इस आत्मोत्सर्ग के लिए अपने अन्तःकरण से तैयार नहीं रहता, तब तक वह पूर्ण भक्त नहीं हो सकता। हम सब अपने शरीर की, थोड़े अथवा अधिक समय तक रक्षा कर सकते हैं और थोड़ा बहुत स्वास्थ्य-सम्भोग भी कर सकते हैं, परन्तु उससे होता क्या है ? शरीर तो एक दिन जायगा ही। उसमें नित्यता तो है नहीं। धन्य हैं वे जिनका शरीर दूसरों की सेवा में नाश होता है। साधु लोग दूसरों के हित के लिए, उनकी सेवा में धन तो क्या प्राण तक दे देते हैं। इस संसार मे केवल मृत्यु ही सत्य है—ध्रुव है, तो यदि हमारा शरीर किसी बुरे काम को छोड़कर भले काम में चला जाय, तभी उसे बहुत अच्छा कहेंगे। हम किसी प्रकार जोर लगाकर पचास अथवा सौ वर्ष जी सकते हैं, मगर फिर उसके बाद ? उसके बाद क्या होगा ? जो वस्तु सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है, विश्लेषण से वही विनष्ट हो जाती है। ऐसा समय आयेगा, जब उसे विश्लिष्ट होना ही पड़ेगा। ईसा मर गये, बुद्धदेव चले गये और मुहम्मद साहब भी विलुप्त हो गए। ससार के सब बड़े-बड़े महापुरुष एवं आचार्यगण भी विलुप्त हो गए। भक्त कहते हैं कि इस क्षणस्थायी ससार में, जहाँ सब कुछ क्रमशः क्षय हो जाता है, हमें जितना भी समय मिले, उसीका सद्व्यवहार करना आवश्यक है। और

वास्तव में जीवन का प्रधान कार्य भी यही है कि उसे सब जीवों की सेवा में लगाया जाय। यह भयानक देहात्मबुद्धि ही ससार में एक प्रकार की स्वार्थपरता का मूल कारण है। हमारा यह बडा भारी भ्रम है कि अपने इस शरीर ही को हम हम समझते हैं और उसकी रक्षा करना और उसे सुखी रखना हम अपना कर्तव्य जानते हैं। अगर तुम निश्चय ही जानलो कि तुम इस शरीर से सम्पूर्णतया पृथक् हो तो इस संसार में ऐसा कुछ नहीं रह जाता, जिससे तुम्हारे विरोध का आभास भी हो। तब तुम सब प्रकार की स्वार्थपरता से परे हो जाओगे। इसीलिए भक्त कहता है, "ससार के सब पदार्थों के प्रति हमें मृतवत् रहना होगा" और यही वास्तविक आत्म-समर्पण है—शरणागति है। "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो" इस वाक्य का अर्थ ही है—इस प्रकार का आत्म-समर्पण अथवा शरणागति। ससार में जीवन सग्राम करना चाहिए और साथ ही-साथ सोचते रहना चाहिए कि भगवान की इच्छानुसार ही हमे दुर्बलता और सासारिक आकाक्षा उत्पन्न होती है।

परन्तु उस पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। हो सकता है कि हमारे स्वार्थपूर्ण कार्यों से भविष्य में हमारा मगल हो। किन्तु इस विषय को भगवान जाने, हमे-तुम्हे इससे कोई वास्ता नहीं। स्वाभाविक भक्त अपने लिये कभी कोई इच्छा अथवा कार्य नहीं करता। "प्रभु! लोग तुम्हारे नाम पर बड़े बडे मन्दिरों की स्थापना करते हैं, तुम्हारे नाम पर कितना ही दान कर डालते हैं, मैं दरिद्र

यह आत्मोत्सर्ग और उपासना से विभिन्न भी नहीं। क्या तुम अहंभाव को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर सकोगे? प्रेम-धर्म की यह चरम सीमा है और विरले ही इस अवस्था की प्राप्ति कर पाते हैं। परन्तु जब तक मनुष्य सदैव ही इस आत्मोत्सर्ग के लिए अपने अन्त करण से तैयार नहीं रहता, तब तक वह पूर्ण भक्त नहीं हो सकता। हम सब अपने शरीर की, थोड़े अथवा अधिक समय तक रक्षा कर सकते हैं और थोड़ा बहुत स्वास्थ्य-सम्भोग भी कर सकते हैं, परन्तु उससे होता क्या है? शरीर तो एक दिन जायगा ही। उसमें नित्यता तो है नहीं। धन्य हैं वे जिनका शरीर दूसरों की सेवा में नाश होता है। साधु लोग दूसरों के हित के लिए, उनकी सेवा में धन तो क्या प्राण तक दे देते हैं। इस ससार में केवल मृत्यु ही सत्य है—ध्रुव है, तो यदि हमारा शरीर किसी बुरे काम को छोड़कर भले काम में चला जाय, तभी उसे बहुत अच्छा कहेंगे। हम किसी प्रकार जोर लगाकर पचास अथवा सौ वर्ष जी सकते हैं, मगर फिर उसके बाद? उसके बाद क्या होगा? जो वस्तु सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है, विश्लेषण से वही विनष्ट हो जाती है। ऐसा समय आयेगा, जब उसे विश्लिष्ट होना ही पड़ेगा। ईसा मर गये, बुद्धदेव चले गये और मुहम्मद साहब भी विलुप्त हो गए। ससार के सब बड़े-बड़े महापुरुष एवं आचार्यगण भी विलुप्त हो गए। भक्त कहते हैं कि इस क्षणस्थायी ससार में, जहाँ सब कुछ क्रमश क्षय हो जाता है, हमें जितना भी समय मिले, उसीका सद्व्यवहार करना आवश्यक है। और

वास्तव में जीवन का प्रधान कार्य भी यही है कि उसे सब जीवों की सेवा में लगाया जाय। यह भयानक देहात्मबुद्धि ही संसार में एक प्रकार की स्वार्थपरता का मूल कारण है। हमारा यह बड़ा भारी भ्रम है कि अपने इस शरीर ही को हम हम समझते हैं और उसकी रक्षा करना और उसे सुखी रखना हम अपना कर्तव्य जानते हैं। अगर तुम निश्चय ही जानलो कि तुम इस शरीर से सम्पूर्णतया पृथक् हो तो इस संसार में ऐसा कुछ नहीं रह जाता, जिससे तुम्हारे विरोध का आभास भी हो। तब तुम सब प्रकार की स्वार्थपरता से परे हो जाओगे। इसीलिए भक्त कहता है, "संसार के सब पदार्थों के प्रति हमें मृतवत् रहना होगा" और यही वास्तविक आत्म-समर्पण है—शरणागति है। "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो" इस वाक्य का अर्थ ही है—इस प्रकार का आत्म-समर्पण अथवा शरणागति। संसार में जीवन संग्राम करना चाहिए और साथ-ही-साथ सोचते रहना चाहिए कि भगवान की इच्छानुसार ही हमें दुर्बलता और सांसारिक आकांक्षा उत्पन्न होती है।

परन्तु उस पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। हो सकता है कि हमारे स्वार्थपूर्ण कार्यों से भविष्य में हमारा मंगल हो। किन्तु इस विषय को भगवान जाने, हमें-तुम्हें इससे कोई वास्ता नहीं। स्वाभाविक भक्त अपने लिये कभी कोई इच्छा अथवा कार्य नहीं करता। "प्रभु ! लोग तुम्हारे नाम पर बड़े बड़े मन्दिरों की स्थापना करते हैं, तुम्हारे नाम पर कितना ही दान कर डालते हैं, मैं दरिद्र

हूँ, अकिञ्चन हूँ। मैं अपने शरीर को ही आपके पाद पद्मों में समर्पित करता हूँ, हे प्रभु! हमें त्याग न देना।' यही प्रार्थना भगवत भक्त के गम्भीर हृदय प्रदेश से बार-बार उठती है, भगवान के लिये। जिन्होंने एक बार भी इस अवस्था का आस्वादन किया है, उनके लिये इसी प्रियतम प्रभु के चरणों में आत्म समर्पण, ससार के सारे धन, प्रभुत्व और मनुष्य जहाँ तक मान, यश, भोग, सुख की आशा कर सकता है, उस सबकी अपेक्षा आत्म समर्पण ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। भगवान पर निर्भरता से उत्पन्न हुई शान्ति हमारी बुद्धि से परे है, अमूल्य है। इस 'अप्रातिकूल्य' अवस्था को प्राप्त करने पर उसमें किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं रहता और जब स्वार्थ ही नहीं रहता तो स्वार्थ हानिकारक इस ससार में क्या हो सकता है? इस परम निर्भरावस्था में सब प्रकार की आसक्ति सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, केवल वही सब जीवों की अन्तरात्मा और आधार स्वरूप भगवान के प्रति सर्वावगाहिनी प्रेमात्मिका आसक्ति रह जाती है। भगवान के प्रति यह प्रेम का आकर्षण जीवात्मा के बन्धन का कारण नहीं होता वरन् वह उसके सारे बन्धन काटने में सहायक होता है।

परा विद्या और परा भक्ति एक ही है

उपनिषद् में परा और अपरा यह विद्या के दो विभाग मिलते हैं। और भक्त को इस परा विद्या और उसकी परा भक्ति में कोई अन्तर नहीं मिलता। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है—"द्वेविद्ये वेदितव्ये इतिहस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवा परा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते।" अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानी बतलाते हैं कि जानने के योग्य दो प्रकार की विद्यायें हैं, एक परा और दूसरी अपरा। इनमें अपरा विद्या है—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शिक्षा (उच्चारण, यति आदि की विद्या), कल्प (यज्ञपद्धति) व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और शास्त्र द्वारा जो उनके अर्थ होते हैं।) छन्द और ज्योतिष। और परा विद्या वही है, जिसके द्वारा अक्षर ज्ञान हो। अतएव स्पष्ट देखा जा सकता है कि यह परा विद्या और ब्रह्मज्ञान एक ही पदार्थ हैं। देवी भागवत में हमें परा भक्ति के निम्न लिखित लक्षण मिलते हैं —"चेतसो वतनश्चैव तैलाधार सम सदा" अर्थात् 'जिस प्रकार तैल एक पात्र से दूसरे पात्र में उँडेलते समय एक अविच्छिन्न-

त्रिकोणात्मक प्रेम

प्रेम को हम एक त्रिकोण के रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं जिसके प्रत्येक कोण से यह अविभाज्य स्वरूप प्रकाशित होता है। बिना तीन कोन के कोई त्रिकोण नहीं होता है और प्रकृत प्रेम भी निम्न लिखित ३ लक्षणों के बिना किसी प्रकार नहीं हो सकता। प्रेम स्वरूप इसी त्रिकोण का एक कोना यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का भाव-ताव नहीं होता। जहाँ किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा होती है, वहाँ प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता। वहाँ तो केवल दुकानदारी होती है। जब तक हमारी भगवान के प्रति भाव-ताव की भक्ति है और उनकी आज्ञा पालन करने के बदले उनसे किसी प्रकार की वर प्राप्ति की आकांक्षा रहती है, तब तक हमारे हृदय में प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता। जो लोग किसी प्राप्ति की आशा से भगवान की उपासना करते हैं, वे यदि वर प्राप्ति की आशा न रहे तो उसकी उपासना नहीं करेंगे। भक्त भगवान को प्रेम करता है, उनको प्रियतम मानकर प्रकृत भक्त इसी देवाश्रित प्रेमोच्छ्वास के लिये भगवान को प्रेम करता है। कथा है कि किसी समय एक बन में एक राजा से एक साधु की भेंट हुई। थोड़ी देर साधु से बातचीत

करते ही राजा को उसकी पवित्रता और ज्ञान का परिचय हो गया, जिससे उसे बड़ा सतोष मिला। और अन्त में उससे अनुरोध करने लगे कि हमे कृतार्थ करने के लिए हमसे कुछ ले लिजिए—ग्रहण कीजिए।" साधु ने अस्वीकार करते हुए कहा कि "वन के फल मेरे लिये भोजन पर्याप्त है, पर्वत निसृतसरित-जल पीने को पयाप्त, वल्कल वसन पर्याप्त और जहाँ हम चाहते हैं, रहते हैं। मैं आपसे अथवा और किसी से कुछ क्यों लूँ?" राजा ने कहा—"कि प्रभु! मुझे अनुगृहीत करने के हेतु ही मेरे हाथ से कुछ लेलो और मेरे साथ राजधानी के राजमहलों को चलो।" बड़े अनुरोध करने पर उसने जाना स्वीकार किया और राजा के महल में गया। दान करने को उद्यत होने से पहले ही राजा वार-बार वर मागने लगे, "प्रभु! मेरी सन्तान और बढ़े, मेरे कोप मे अधिकाधिक धन-वृद्धि हो, हमारे राज्य का विस्तार बढ़े, हमारा शरीर नीरोग रहे इत्यादि।"

राजा ने अपनी याचना समाप्त भी न कर पाई थी कि साधु चुपचाप उठकर जाने लगा। हतबुद्धि होकर राजा उसके पीछे-पीछे चलने लगे और चिल्लाकर कहने लगे कि—"स्वामी! क्या आप चले जायँगे? क्या हमारा दान आप नहीं ग्रहण करेंगे?" साधु ने उनकी ओर देखकर कहा—"हे भिक्षुक! मैं भिक्षुक से भिक्षा नहीं ग्रहण करता। तुम खुद भिखारी हो। तुम मुझे क्या दोगे? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि तुम्हारी तरह भिखारी से भी भीख माँगू। जाओ, मेरे पीछे-पीछे मत आओ।" इस स्थल पर भिखा-

पालन न करने से हमें दण्डित होना पड़ेगा। इस दण्ड के भय से भगवान की उपासना अत्यन्त नीच श्रेणी की उपासना कही गई है। ऐसी उपासना का नाम यदि उपासना रखते हैं तो भी यह प्रेम की अत्यन्त अपरिणित अवस्था मात्र है। जब तक हृदय में किसी प्रकार का भय रहता है, तब तक उसमें प्रेम के रहने की सम्भावना कहाँ? प्रेम स्वभावत सारे भय का नाश करके फेंकता है।

मान लो कि एक तरुणी जननी रास्ते पर जा रही है। एक कुत्ता उस पर भूकने लगता है और वह निकटवर्ती घर में घुस जाती है। किन्तु यदि उसका बचा उसके साथ हो और एक सिंह भी उस बच्चे पर झपटे, तो क्या माँ कहीं भागने अथवा छिपने का प्रयत्न करेगी? अवश्य ही वह उस समय सिंह के मुँह में समा जायगी। अस्तु, प्रेम वास्तव में सारे भय का नाश कर देता है। 'जगत का सम्पर्क नष्ट हो जाता है' इस प्रकार के स्वार्थपर भावों से भय उत्पन्न होता है। हम अपने को जितना क्षुद्र और स्वार्थी बनायेंगे, उतना ही हममें भय अधिक बढ़ जायगा। यदि कोई विचारता है कि 'मैं कुछ नहीं हूँ' तो उसे निश्चय ही भय प्रतीत न होगा। और तुम अपने को जितना कम क्षुद्र समझोगे, उतना ही कम तुम्हारा भय होता जायगा। जब तक तुम में एक बूँद भी भय का रहेगा तब तक तुम वास्तविक प्रेम नहीं कर सकते। प्रेम और भय यह दोनों विपरीत भावापन्न हैं। जो भगवान को प्रेम करते हैं, वे उससे कभी नहीं डरते। प्रकृत भगवत् प्रेमी,

"भगवान का नाम व्यर्थ मत ले।" यह सुनकर हँसने लगते हैं। प्रेम धर्म में भगवान् की निन्दा का स्थान कहाँ? चाहे जिस प्रकार तुम प्रभु का नाम जितना ही ले सकते हो, उतना ही तुम्हारा मगल होगा। तुम उसे प्रेम करते हो तभी तो तुम उसका नाम लेते हो।

प्रेम रूपी त्रिकोण का तीसरा कोना यह है कि प्रेमिक के कोई दो प्रिय नहीं हो सकते, क्योंकि यही तो प्रेमिकों का सर्वोच्च आदर्श होता है। जब तक हमारा प्रेम का पात्र ही हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं हो जाता, तब तक प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न होता। हो सकता है कि अनेकों स्थलों में मनुष्य का प्रेम खराबी की ओर प्रयुक्त किया गया हो, किन्तु प्रेमिक के लिए उसकी प्रिय वस्तु ही उसका सर्वोच्च आदर्श होता है। कोई मनुष्य किसी कुत्सित व्यक्ति में ही अपना यह उच्च आदर्श पाते हैं और कोई कोई भले व्यक्ति मे, परन्तु सर्वत्र ही केवल आदर्श ही के प्रति प्रकृत प्रगाढ प्रेम होता है। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही उसका ईश्वर कहते हैं। अज्ञानी हो या ज्ञानी, साधु हो अथवा पापी, नर हो या नारी, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, सब मनुष्यों का उच्चतम आदर्श ही ईश्वर है। सारे सौंदर्य, महत्त्व और शक्ति के उच्चतम आदर्श समूह की समष्टि करने से प्रेममय और प्रियतम भगवान का पूर्ण भाव पाया जाता है। ये आदर्श प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्वभावत किसी-न किसी रूप में वर्तमान रहते हैं।

यही आदर्श हमारे मन के अंग अथवा अंश विशेष हैं। मनुष्य प्रकृति में जो सारी क्रियाओं का विकास पाया जाता है, वह सब आदर्शों को व्यवहारिक जीवन आचरण में परिणित करने की चेष्टा स्वरूप है। हम अपने चारों ओर जो समाज में नाना प्रकार के व्यापार तथा आन्दोलन देखते हैं, वे सब भिन्न-भिन्न आत्माओं के विभिन्न आदर्शों को कार्यरूप में परिणित करने की चेष्टा के फल हैं। जो भीतर है, वही बाहर निकलने की चेष्टा करेगा। मनुष्य के हृदय में आदर्श का यह चिर-प्रबल प्रभाव ही यही एक-मात्र सर्वनियन्त्री महाशक्ति है, जिसकी क्रिया मानव जाति में नियत रूप से वर्तमान रहती है। हो सकता है कि सौ जन्म, हजारों वर्षों की चेष्टा के बाद मनुष्य समझे कि हमारे अन्तरस्थित आदर्श बाहर की अवस्थाओं से सम्पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते, और यह समझकर वह बहिर्जगत को अपने आदर्श के अनुसार बनाने की चेष्टा का परित्याग करदे और अपने आदर्श को उसी उच्चतम प्रेमभूमि में अपने आदर्श के रूप में उपासना करे। सब छोटे छोटे आदर्श इसी पूर्ण आदर्श के अन्तर्गत हैं। कहा जाता है और सबलोग इस कथन की सत्यता को स्वीकार करते हैं कि "यार संग है यार मजेमन, वह है ब्राह्मण या है डोम।" और लोग कहेंगे कि यहाँ तो प्रेम को अपात्र को दे डाला है, परन्तु जो प्रेमिक है, वह ब्राह्मण अथवा डोम नहीं देखते, वे तो उन्हें राजा-रानी समझते हैं। चाहे वह ब्राह्मण अथवा डोम हो, चाहे राजा-रानी हो। प्रकृत पक्ष में हमारे प्रेम के आधार-

"भगवान का नाम व्यर्थ मत ले !" यह सुनकर हँसने लगते हैं। प्रेम-धर्म में भगवान् की निन्दा का स्थान कहाँ ? चाहे जिस प्रकार तुम प्रभु का नाम जितना ही ले सकते हो, उतना ही तुम्हारा मंगल होगा। तुम उसे प्रेम करते हो तभी तो तुम उसका नाम लेते हो।

प्रेम रूपी त्रिकोण का तीसरा कोना यह है कि प्रेमिक के कोई दो प्रिय नहीं हो सकते, क्योंकि यही तो प्रेमिकों का सर्वोच्च आदर्श होता है। जब तक हमारा प्रेम का पात्र ही हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं हो जाता, तब तक प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न होता। हो सकता है कि अनेकों स्थलों में मनुष्य का प्रेम खराबी की ओर प्रयुक्त किया गया हो, किन्तु प्रेमिक के लिए उसकी प्रिय वस्तु ही उसका सर्वोच्च आदर्श होता है। कोई मनुष्य किसी कुत्सित व्यक्ति में ही अपना यह उच्च आदर्श पाते हैं और कोई कोई भले व्यक्ति में, परन्तु सर्वत्र ही केवल आदर्श ही के प्रति प्रकृत प्रगाढ़ प्रेम होता है। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही उसका ईश्वर कहते हैं। अज्ञानी हो या ज्ञानी, साधु हो अथवा पापी, नर हो या नारी, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, स मनुष्यों का उच्चतम आदर्श ही ईश्वर है। सारे सौंदर्य, महत्‍ और शक्ति के उच्चतम आदर्श समूह की समष्टि करने से प्रे भय और प्रियतम भगवान का पूर्ण भाव पाया जाता है। आदर्श प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्वभावत किसी-न-किसी रू में वर्तमान रहते हैं।

यही आदर्श हमारे मन के अंग अथवा अंश विशेष हैं। मनुष्य प्रकृति में जो सारी क्रियाओं का विकास पाया जाता है, वह सब आदर्शों को व्यवहारिक जीवन आचरण में परिणित करने की चेष्टा स्वरूप है। हम अपने चारों ओर जो समाज में नाना प्रकार के व्यापार तथा आन्दोलन देखते हैं, वे सब भिन्न भिन्न आत्माओं के विभिन्न आदर्शों को कार्यरूप में परिणित करने की चेष्टा के फल हैं। जो भीतर है, वही बाहर निकलने की चेष्टा करेगा। मनुष्य के हृदय में आदर्श का यह चिर-प्रबल प्रभाव ही यही एकमात्र सर्वनियन्त्री महाशक्ति है, जिसकी क्रिया मानव जाति में नियत रूप से वर्तमान रहती है। हो सकता है कि सौ जन्म, हजारों वर्षों की चेष्टा के बाद मनुष्य समझे कि हमारे अन्तरस्थित आदर्श बाहर की अवस्थाओं से सम्पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते, और यह समझकर वह बहिर्जगत को अपने आदर्श के अनुसार बनाने की चेष्टा का परित्याग करदे और अपने आदर्श को उसी उच्चतम प्रेमभूमि में अपने आदर्श के रूप में उपासना करे। सब छोटे-छोटे आदर्श इसी पूर्ण आदर्श के अन्तर्गत हैं। कहा जाता है और सबलोग इस कथन की सत्यता को स्वीकार करते हैं कि "यार सग है यार मजेमन, वह है ब्राह्मण या है डोम।" और लोग कहेंगे कि यहाँ तो प्रेम को अपात्र को दे डाला है, परन्तु जो प्रे... वह ब्राह्मण अथवा डोम नहीं देखते, वे तो उन्हें राजा... चाहे वह ब्राह्मण अथवा हो, चाहे राजा... में हमारे प्रेम के

स्वरूप केन्द्र विशेष वही है, जिसके चारों ओर आदर्श घनीभूत होते रहते हैं। ससार साधारणत: किसकी उपासना करता है? भक्त और प्रेमिक के सर्वावगाही इस उच्चतम आदर्श की? नहीं—लोग प्राय: अपने हृदयाभ्यन्तरीण आदर्श की उपासना करते हैं। प्रत्येक पुरुष अपने आदर्श को बाहर निकालकर उसके सन्मुख बैठकर उसे प्रणाम करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो स्वयं निष्ठुर और रक्तपिपासु होते हैं, वे केवल रक्त पिपासु ईश्वर की उपासना करते हैं, क्योंकि वे अपने ही उच्चतम आदर्श को प्रेम करते हैं। इसी कारण से साधु पुरुष का ईश्वरीय आदर्श अत्यन्त ऊँचा होता है और उनका आदर्श दूसरे व्यक्तियों के आदर्श से बिलकुल अलग।

प्रेम के भगवान स्वतः प्रमाणित हैं।

जो प्रेमिक व्यक्ति स्वार्थपरता और फलाकांक्षा शून्य होते हैं और जिन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता, उनका आदर्श क्या होता है ? महा महिमावान् ईश्वर से भी वे यही कहते हैं कि—"मैं तुमको अपना सर्वस्व दूँगा। तुमसे मैं कुछ भी नहीं चाहता। वास्तव में ऐसा कुछ है ही नहीं, जिसे मैं 'अपना' कह सकूँ।" जब मनुष्य इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब उसका आदर्शपूर्ण प्रेम हो जाता है और वह प्रेम अनिवपूर्ण निर्भीकता के आदर्श में परिणित हो जाता है। इस प्रकार के पुरुप के सर्वोच्च आदर्श में किसी प्रकार की विशेषत्व रूपी सङ्कीर्णता नहीं रहती। वह सार्वभौमिक प्रेम, अनन्त और असीम प्रेम प्रेमस्वरूप अथवा पूर्ण स्वतन्त्र प्रेम का आकार धारण करता है। तब प्रेम धर्म के इस महान आदर्श में किसी प्रकार की प्रतीक अथवा प्रतिमा की सहायता न लेकर वह उसी के रूप में उसकी उपासना करता है। यही उत्कृष्ट परा-भक्ति है—एक सार्वभौमिक आदर्श को आदर्श मानकर उसकी उपासना करना। और सब प्रकार की भक्ति इस भक्ति तक पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। इस प्रेमरूपी धर्म पथ पर चलते-चलते

हम जो कुछ सिद्धि अथवा असिद्धि प्राप्त करते हैं, वह सब इसी एक आदर्श प्राप्ति के लिये अर्थात् दूसरे प्रकार से उसकी प्राप्ति में सहायक होते हैं। एक के बाद दूसरी वस्तु मिलती जाती है और हमारा अभ्यन्तरवर्ती आदर्श उनके ऊपर प्रक्षिप्त होता रहता है। क्रमश यह सब बाह्य वस्तुएँ उसी क्रमविस्तार शील अभ्यन्तरीण आदर्श के लिए अनुपयुक्त हो जाती हैं और स्व भावत एक के बाद दूसरी छूटती जाती हैं, अन्त में साधक समझ लेता है कि बाह्य वस्तु द्वारा आदर्श की उपलब्धि की चेष्टा वृथा है, आदर्श की तुलना में सब बाह्य वस्तुएँ तुच्छ हैं। कालान्तर में वह उस सर्वोच्च और सम्पूर्ण निर्विशेषभावपन्न सूक्ष्म आदर्श को सम्पूर्ण रूप से अपना लेता है और सत्य भाव से उसके अनुभव करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जब भक्त इस अवस्था को पहुँच जाता है, तो भगवान को प्रमाणित किया जा सकता है कि नहीं, वे सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् हैं कि नहीं? ये सब प्रश्न उसके हृदय में नहीं उठते। उसके लिये भगवान् प्रेममय हैं, वे प्रेम के सर्वोच्च आदर्श हैं, यही भाव यथेष्ट हो जाता है। भगवान् प्रेम रूप होने से स्वत सिद्ध हैं—और प्रमाण होने की उसे कोई आवश्यकता नहीं।

अन्यान्य धर्मों के विचारों से भगवान को प्रमाणित करने के लिये अनेकों प्रमाणों की आवश्यकता है, परन्तु भक्त अपने भगवान के प्रति इस प्रकार धारणा नहीं कर सकता और करता भी नहीं। उसके लिये भगवान केवल प्रेम रूप में वर्तमान रहते

हैं। "कोई भी पति को पति के लिये प्रेम नहीं करता, पति की अन्तरवर्ती आत्मा के लिये स्त्री पति को प्रेम करती है। कोई पत्नी को पत्नी के लिये नहीं प्यार करता, वरन् उसकी अन्तरस्थायी आत्मा के लिये ही वह प्रिया होती है।" कोई कोई कहते हैं—"मनुष्य के सब प्रकार के कार्यों की मूल है स्वार्थपरता।" हमारी राय में वह भी प्रेम ही है केवल विशिष्टता हो जाने से वह निम्न-भावापन्न है। जब हम अपने को ससार की सब वस्तुओं में अवस्थित पाते हैं, तब निश्चय ही हम में स्वार्थपरता नहीं रह सकती। किन्तु जब हम भ्रमवश अपने मन को छुद्र कर डालते हैं, तो हमारा प्रेम सङ्कीर्ण होकर विशेष भाव धारणकर लेता है। प्रेम के विषय को सङ्कीर्ण और सीमाबद्ध करना ही हमारा भ्रम है। इस ससार की सारी वस्तुएँ भगवान ही की पैदा की हुई हैं, अतएव वे प्रेम के योग्य हैं। परन्तु यह स्मर्ण रखना चाहिए कि समष्टि को प्रेम करने से उसके अशों के प्रति भी प्रेम होता है। यह समष्टि ही भक्त के भगवान हैं। और अन्यान्य प्रकार के ईश्वर—स्वर्गस्थपिता, शास्ता, स्रष्टा, नाना प्रकार के मतामत, शास्त्रादि भक्त के लिये निरर्थक हैं, उसके लिये इनका कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि पराभक्ति के प्रभाव से वे इस सबके ऊपर उठ चुके हैं। जब अन्तर शुद्ध होता है, पवित्रता और ऐश्वरिक प्रेमामृत से परिपूर्ण होता है, तो अन्य सब प्रकार की ईश्वर धारणा लड़कपन, असम्पूर्ण, अथवा अनुपयुक्त जान पड़ती है और छूट जाती है। वास्तविक पराभक्ति का प्रभाव ही ऐसा है। उस समय यदी उपा-

वस्था में पहुँचा हुआ भक्त अपने भगवान को मन्दिरों आदि में नहीं खोजता फिरता, उसे कोई ऐसा स्थान ही नहीं दीखता जहाँ वे नहीं। वह उन्हें मन्दिर मे, मन्दिर के बाहर सर्वत्र देखता है। वह उन्हें साधु की साधुता में तथा पापी के पाप में भी देखता है। इसका कारण यह है कि वह पहले ही मे उन्हें नित्य दीप्तमान नित्य वर्तमान, सर्व शक्तिमान, अनिर्वाण प्रेम ज्योतिरूप में अपने हृदय के अन्दर विराजमान देखता है।

मनुष्य की भाषा में भगवत्प्रेम का वर्णन

मनुष्य की भाषा में प्रेम के सबसे ऊँचे और पूर्ण आदर्श का परिचय देना सभव नहीं। ऊँची से ऊँची मनुष्य की कल्पना भी इसकी अनन्त पूर्णता और सौंदर्य का अनुभव नहीं कर सकती तो भी सब देशों के प्रेम धर्म की नीची और ऊँची दोनों अवस्थाओं के उपासकों को अपने प्रेम के आदर्श का अनुभव और उसका लक्षण ठीक करने में सदा इसी अनुपयुक्त अथवा असमर्थ मनुष्य-भाषा का व्यवहार करना पड़ा है। केवल यही नहीं, भिन्न-भिन्न प्रकार का मानवीय प्रेम ही इस अव्यक्त भगवत्प्रेम के प्रतीक के रूप में लिया गया है। मनुष्य, ईश्वर से सबंध रखनेवाले विषयों को मानवीय भाव से ही प्रकट कर सकता है—हमारे निकट वह पूर्ण केवल हमारी आपेक्षिक भाषा में प्रकाशित हो सकता है। यह सारा जगत् हमारे निकट क्या है? यही कि अनन्त जैसे केवल सान्त भाषा में लिखा हुआ है। इसी कारण भक्त लोग भगवान् और उनके प्रेम की उपासना के विषय में लौकिक प्रेम के लौकिक शब्दों का व्यवहार किया करते हैं। कुछ परा-भक्ति की व्याख्या करनेवालों ने इस पराभक्ति को नीचे लिखे हुए विभिन्न उपायों से समझने और

उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने की चेष्टा की है। इनमें से सबसे नीची अवस्था को शान्त भक्ति कहते हैं। जब मनुष्य के हृदय में प्रेम की आग नहीं जली होती, जब उसकी बुद्धि प्रेम की उन्मत्तता में अपने को खो नहीं देती, ये बाहरी क्रिया-कलाप बाहरी भक्ति कुछ उन्नत सीधे सादे ढग के प्रेम का केवल उदय हुआ होता है, जब वह तीव्र वेग से युक्त प्रेम की उन्मत्तता के लक्षण में लक्षित नहीं हुआ होता, तब इस भाव से भगवान् की उपासना को शान्त भक्ति या शान्त प्रेम कहते हैं। हम देखते हैं, जगत् में कुछ ऐसे लोग हैं, जो धीरे-धीरे साधना की राह में आगे बढ़ना पसद करते हैं। और कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो आँधी की तरह तेजी से इस मार्ग में चले जाते हैं। शान्त भक्त धीर, शान्त और नम्र होता है। उससे कुछ ही ऊँची अवस्था दास्य भाव की है। इस अवस्था में मनुष्य अपने को ईश्वर का दास समझता है। विश्वासी सेवक की प्रभु-भक्ति ही उसका आदर्श होता है।

इसके बाद सख्य प्रेम का नम्बर है। इस सख्य प्रेम के साधक भक्त भगवान् से कहा करते हैं—"तुम हमारे प्रिय बधु हो!" ("त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव"—पाडव गीता)। जैसे मनुष्य अपने मित्र के आगे अपना हृदय खोलकर रख देता है, जानता है कि मित्र उसके दोष के लिये कभी उसका तिरस्कार नहीं करेगा, बल्कि उसकी भलाई और हित की ही चेष्टा करेगा—दोनों बधुओं में जैसे एक बराबरी का भाव रहता है, वैसे ही

इस तरह के सख्य प्रेम के साधक और उनके सखारूप भगवान् में जैसे एक तरह का बराबरी का भाव रहता है। सुतराम् भगवान् हमारे हृदय के बहुत ही निकटवर्ती मित्र हुए--उस मित्र के आगे हम अपने जीवन की सब बातें खोलकर कह सकते हैं, अपने हृदय की तह मे छिपे हुए सब गुप्त भावों को उन्हे बता सकते हैं। हमे पूरा भरोसा है कि जिसम हमारा मगल होगा, भगवान् वही करेंगे। यह सोचकर हम पूरी तरह से निश्चिन्त हो सकते है। इस अवस्था मे भक्त भगवान् को अपने समान समझता है--भगवान् जैसे हमारे खेल के साथी हैं, हम सब इस जगत् में जैसे खिलवाड कर रहे हैं। जैसे लडके खेलते हैं, जैसे महा यशस्वी बडे राजा-महाराजा भी अपना खेल खेलते हैं, वैसे ही वह प्रेम के आधार प्रभु भी आप जगत् के साथ खेल खेल रहे हैं। वह पूर्ण हैं--उनके किसी बात की कमी नहीं है। फिर उनके सृष्टि करने की आवश्यकता क्या है? हम जो काम करते हैं तो उसका उद्देश्य किसी न किसी अभाव की पूर्ति करना ही होता है। और अभाव या कमी का अर्थ ही असपूर्णता है। भगवान् पूर्ण हैं--उनके कोई अभाव नहीं है। फिर वह क्यों बारबार कर्ममय सृष्टि मे लगे हुए हैं? उनका क्या उद्देश्य है? भगवान् की सृष्टि के उद्देश्य के बारे मे हम जिन कथाओं की कल्पना करते हैं, वे क़िस्से कहानी के हिसाब से सुन्दर हो सकती हैं, उनका और कोई मूल्य नहीं है। वास्तव में यह सभी उनका खेल है। यह जगत् उनका खेल है--यह खेल बराबर

उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने की चेष्टा की है। इनमें से सबसे नीची अवस्था को शान्त भक्ति कहते हैं। जब मनुष्य के हृदय में प्रेम की आग नहीं जली होती, जब उसकी बुद्धि प्रेम की उन्मत्तता में अपने को खो नहीं देती, ये बाहरी क्रिया-कलाप बाहरी भक्ति कुछ उन्नत सीधे सादे ढंग के प्रेम का केवल उदय हुआ होता है, जब वह तीव्र वेग से युक्त प्रेम की उन्मत्तता के लक्षण से लक्षित नहीं हुआ होता, तब इस भाव से भगवान् की उपासना को शान्त भक्ति या शान्त प्रेम कहते हैं। हम देखते हैं, जगत् में कुछ ऐसे लोग हैं, जो धीरे-धीरे साधना की राह में आगे बढ़ना पसंद करते हैं। और कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो आँधी की तरह तेज़ी से इस मार्ग में चले जाते हैं। शान्त भक्त धीर, शान्त और नम्र होता है। उससे कुछ ही ऊँची अवस्था दास्य भाव की है। इस अवस्था में मनुष्य अपने को ईश्वर का दास समझता है। विश्वासी सेवक की प्रभु-भक्ति ही उसका आदर्श होता है।

इसके बाद सख्य प्रेम का नम्बर है। इस सख्य प्रेम के साधक भक्त भगवान् से कहा करते हैं—"तुम हमारे प्रिय बंधु हो।" ("त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव"—पाण्डव गीता)। जैसे मनुष्य अपने मित्र के आगे अपना हृदय खोलकर रख देता है, जानता है कि मित्र उसके दोष के लिये कभी उसका तिरस्कार नहीं करेगा, बल्कि उसकी भलाई और हित की ही चेष्टा करेगा—दोनों बंधुओं में जैसे एक बराबरी का भाव रहता है, वैसे ही

इस तरह के सख्य प्रेम के साधक और उनके सखारूप भगवान् में जैसे एक तरह का बराबरी का भाव रहता है। सुतराम् भगवान् हमारे हृदय के बहुत ही निकटवर्ती मित्र हुए—उस मित्र के आगे हम अपने जीवन की सब बातें खोलकर कह सकते हैं, अपने हृदय की तह में छिपे हुए सब गुप्त भावों को उन्हें जता सकते हैं। हमें पूरा भरोसा है कि जिसमें हमारा मगल होगा, भगवान् वही करेंगे। यह सोचकर हम पूरी तरह से निश्चिन्त हो सकते हैं। इस अवस्था में भक्त भगवान् को अपने समान समझता है—भगवान् जैसे हमारे खेल के साथी हैं, हम सब इस जगत् में जैसे खिलवाड कर रहे हैं। जैसे लडके खेलते हैं, जैसे महा यशस्वी बड़े राजा-महाराजा भी अपना खेल खेलते हैं, वैसे ही वह प्रेम के आधार प्रभु भी आप जगत् के साथ खेल खेल रहे हैं। वह पूर्ण हैं—उनके किसी बात की कमी नहीं है। फिर उनके सृष्टि करने की आवश्यकता क्या है? हम जो काम करते हैं तो उसका उद्देश्य किसी न किसी अभाव की पूर्ति करना ही होता है। और अभाव या कमी का अर्थ ही असपूर्णता है। भगवान् पूर्ण हैं—उनके कोई अभाव नहीं है। फिर वह क्यों बारबार कर्ममय सृष्टि में लगे हुए हैं? उनका क्या उद्देश्य है? भगवान् की सृष्टि के उद्देश्य के बारे में हम जिन कथाओं की कल्पना करते हैं, वे क़िस्से कहानी के हिसाब से सुन्दर हो सकती हैं, उनका और कोई मूल्य नहीं है। वास्तव में यह सभी उनका खेल है। यह जगत् उनका खेल है—यह खेल बराबर

चल रहा है। उनके लिये यह सारा जगत् निश्चय ही एक मज़े का खेल घर है। अगर तुम बिल्कुल ग़रीब हो, तो अपनी उस ग़रीबी को ही एक बड़ा भारी तमाशा या खेल समझो, और अगर बड़े आदमी हो तो उस अमीरी को भी एक खेल समझकर ही उसका उपभोग करो। विपत्ति आवे तो वही एक सुंदर तमाशा है और सुख मिले तो समझो, यह भी एक ख़ासा खेल है। यह जगत् केवल क्रीड़ा क्षेत्र है—हम यहाँ ख़ूब अच्छी तरह से मजा उड़ाते हैं—जैसे खेल हो रहा है, और भगवान् सदा खेल खेल रहे हैं, हम भी उनके साथ खेलते हैं। हमारे भगवान् अनन्त काल के खिलाड़ी हैं। अनन्त काल के खेल के साथी हैं। कैसा सुंदर खेल, खेल रहे हैं। खेल ख़तम हुआ, एक युग समाप्त हुआ, उसके बाद थोड़े बहुत समय के लिए विश्राम उसके बाद फिर खेल शुरू फिर जगत् की सृष्टि। तुम जब यह भूल जाते हो कि यह सब खेल है और तुम भी इस खेल के सहायक हो, तभी केवल तभी दुःख और कष्ट आकर उपस्थित होता है। तभी हृदय पर एक भारी बोझ आ पड़ता है और संसार अपने भारी बोझ के साथ तुम्हारे सिर पर चढ़ बैठता है। किन्तु जब तुम इस दो घड़ी के जीवन की परिवर्तनशील घटनावली को सत्य समझना छोड़ देते हो—जब संसार को क्रीड़ा की रंगभूमि और अपने को ईश्वर की क्रीड़ा का सहायक समझने लगोगे, वैसे ही तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायगा। प्रत्येक अणु में उन्हीं भगवान् का खेल नज़र आता है। वह खेलते-खेलते पृथ्वी, सूर्य,

चन्द्र आदि की रचना करते हैं। वह मनुष्य के हृदय, प्राणियों और उद्भिदों के साथ क्रीड़ा करते हैं। हम उनकी शतरंज के मोहरे हैं। वह उनको एक बिसात में बिठाकर चलाते हैं। वह हमें पहले एक ओर फिर दूसरी ओर बिठाते हैं—हम भी जानकर या बिना जाने उनकी क्रीडा के सहायक हैं। अहो, कैसा आनन्द है! हम उनकी क्रीड़ा के सहायक हैं!

इसके बाद की अवस्था को वात्सल्य-प्रेम कहते हैं। इसमें भगवान् को पिता न समझकर सन्तान समझना होता है। यह कुछ नये ढग का जान पड़ सकता है, किन्तु इसका उद्देश्य है हमारी भगवान् की धारणा से ऐश्वर्य के सब भावों को दूर करना। ऐश्वर्य के भव के साथ भय रहता है। किन्तु प्रेम में—प्यार में भय न रहना चाहिए। चरित्रगठन के लिए भक्ति और आज्ञा-पालन का अभ्यास आवश्यक अवश्य है, लेकिन एकबार चरित्र गठित होने पर जब प्रेमिक शान्त प्रेम का थोड़ा सा स्वाद पाता है, और प्रेम की तीव्र उन्मत्तता का भी कुछ स्वाद पाता है, तब फिर नीति शास्त्र और साधन-नियम आदि का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। प्रेमिक कहता है, भगवान् को महामहिम, ऐश्वर्यशाली, जगन्नाथ, देवाधिदेव के रूप में देखने की मेरी इच्छा नहीं होती। भगवान् की धारणा से इस भय उत्पन्न करनेवाले ऐश्वर्य के भाव को भगाने के लिए वह भगवान् को सन्तान के रूप में प्रेम करता है। मा-बाप लड़के से डरते नहीं। लड़के के ऊपर उनकी भक्ति भी नहीं होती। उनके लिए लड़के से कुछ प्रार्थना करने को भी नहीं

रहता। लड़का ही सब उनसे माँगने का अधिकार रखता है। सन्तान के ऊपर प्रेम के कारण माँ-बाप सौ सौ बार प्राण त्याग करने को तैयार रहते हैं। जिन सब सम्प्रदायों में भगवान् अवतार लेते हैं, जो लोग अवतार पर विश्वास करते हैं, उन्हीं में यह वात्सल्य भाव की उपासना स्वाभाविक है। मुसलमान भाइयों के लिए भगवान को इस तरह सन्तान के रूप में देखना महा कठिन है। वे भय के मारे इस भाव से दूर रहते हैं। किन्तु ईसाई और हिन्दू सहज में ही उसे समझ सकते हैं। कारण उनके बालक ईसा और कृष्ण मौजूद हैं। भारतीय नारियाँ अक्सर अपने को श्रीकृष्ण की माता के रूप में अनुभव करती हैं। ईसाई माताएँ भी अपने को ईसा की माता विचार सकती हैं। इससे पाश्चात्य देशों में ईश्वर के मातृभाव का ज्ञान आवेगा और इसकी उनके लिए खास तौर पर ज़रूरत है। भगवान् के प्रति भय-भक्ति रूप यह कुसंस्कार हमारे हृदय की तह में जड़ जमाये हुए हैं। भगवत्सम्बन्धी यह भय-भक्ति ऐश्वर्य महिमा का भाव इस प्रेम के भीतर एकदम डुबा देने में बहुत समय लगता है।

मनुष्य ने इस ईश्वर के आदर्श को और एक तरह से प्रकट किया है। इसका नाम है मधुर, और यही सब प्रकार के प्रेमों में सर्वश्रेष्ठ है। जगत् के सर्वोच्चप्रेम के ऊपर इसकी नींव है और मानवीय प्रेम में यही सबसे प्रबलतम है। स्त्री पुरुष का प्रेम जैसे मनुष्य की सारी प्रकृति को उलट-पलट डालता है, वैसा क्या और कोई प्रेम कर सकता है? कौन प्रेम मनुष्य के प्रति परमाणु

के भीतर सचारित होकर उसे पागल बना देता है—अपनी प्रकृति को भुला देता है—मनुष्य को देवता अथवा पशु बना देता है ? इस मधुर प्रेम मे भगवान् को हम पति के रूप मे देखते हैं। हम सभी स्त्री हैं। जगत् मे और कोई पुरुष नहीं है। केवल एक मात्र भगवान् ही पुरुष हैं—वही, हमारे सब प्रेमों का आधार एकमात्र पुरुष है। पुरुष स्त्री को और स्त्री परुष को जिस प्रेम से प्यार करती है, वही प्रेम भगवान् को अर्पण करना होगा। हम इस जगत् में जितने प्रकार के प्रेम देख पाते हैं, जिन्हें लेकर हम थोड़ी बहुत क्रीड़ा करते हैं, उनका एकमात्र लक्ष्य भगवान् ही हैं। पर दु ख की बात है कि जिस अनन्त समुद्र की ओर महा प्रेम की नदी सदा बहती है, उसे मानव नहीं जानता, अतएव मूर्ख की तरह वह मनुष्य रूप क्षुद्र मिट्टी के खिलौनों पर उसका प्रयोग करने की चेष्टा करता है। मनुष्य की प्रकृति में सन्तान के प्रति जो प्रबल स्नेह देखा जाता है, वह केवल एक सन्तानरूप क्षुद्र खिलौने के लिए नहीं है। अगर तुम अधभाव से एकमात्र सन्तान के ऊपर उसका प्रयोग करोगे तो उसके लिए तुमको विशेष भोगना पड़ेगा, किन्तु इस दुःख भोग से ही तुम्हें यह ज्ञान प्राप्त होगा कि तुम्हारे भीतर जो प्रेम है, उसका प्रयोग अगर किसी मनुष्य पर करोगे तो चाहे जल्दी हो चाहे देर में, वह तुम्हारे जीवन मे अवश्य अशान्ति पैदा कर देगा। अतएव हमें अपने प्रेम का प्रयोग उस पुरुषोत्तम के ऊपर ही करना चाहिए, जिसका न विनाश है, न कभी कोई परिवर्तन है—जिनके प्रेमसागर में

ज्वार-भाटा नहीं है। हमे ख्याल रखना चाहिए कि प्रेम अपने ठीक लक्ष्य पर पहुँचे, उनके निकट पहुँचे, जो यथार्थ मे प्रेम के अनन्त समुद्र-स्वरूप हैं। एक पानी का बूँद तक पर्वत से गिरकर केवल एक नदी मे (वह चाहे जितनी बड़ी हो) थम नहीं सकता। अत को वह जलबिंदु किसी न किसी तरह समु मे पहुँच जाता है। भगवान् ही हमारे सब प्रकार के भावों के एक मात्र लक्ष्य हैं। अगर खफा होना चाहते हो तो भगवान पर खफा होओ अपने प्रेमास्पद को धमकाओ अपने सखा को धमकाओ। और किसे तुम बेखटके तिरस्कार कर सकते हो? मर्त्य-जीव तो तुम्हारे क्रोध को बर्दाश्त नहीं करेगा। उससे तुम्हारे ऊपर उस क्रोध की प्रतिक्रिया आवेगी अगर तुम मुझपर क्रोध करो, तो मैं भी अवश्य ही तुमपर क्रुद्ध हो उठूँगा—मैं तुम्हारे क्रोध को सह नहीं सकूँगा। अपने प्रेमपात्र से कहो, तुम मेरे पास क्यों नहीं आते? क्यों मुझे अकेला डाल रक्खा है? उसके सिवा और काहे मे आनद है। छोटी छोटी मिट्टी की ढेरियों मे क्या सुख है? अनत आनद के ठोस सागर को ही हमें खोजना होगा—भगवान् ही वह ठोस आनद हैं। हमारी प्रवृत्ति, भाव आदि सभी जैसे उनके समीप जाय। वे सब उन्हीं के लिए अभिप्रेत हैं। वे अगर लक्ष्य भ्रष्ट हुए, तो कुत्सित रूप धारण करेंगे। जब वे ठीक अपने लक्ष्यस्थल अर्थात् ईश्वर के निकट पहुँचते हैं, तब बहुत नीची से नीची हमारी वृत्ति तक और ही रूप धारण कर लेती है। मनुष्य का मन और शरीर की सारी

शक्ति—वह चाहे जिस भाव से प्रकाशित क्यों न हो, उसका एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र स्थान भगवान् ही हैं। मनुष्य के हृदय का सब प्यार—सब प्रवृत्तियाँ भगवान् ही की ओर जानी चाहिए। वही एकमात्र प्रेम के पात्र हैं। यह मनुष्य का हृदय और किसे प्यार करेगा? वह परम सुंदर हैं, परम महत् हैं, सौंदर्य-स्वरूप हैं, महत्त्वस्वरूप हैं। उनसे बढ़कर इस जगत् में और कौन सुंदर है? उनके सिवा इस जगत् का स्वामी होने के लायक़ और कौन है? प्यार के योग्य पात्र और कौन है? इस लिए, वही हमारे स्वामी हों, वही हमारे प्रेमपात्र हों। अक्सर ऐसा होता है कि भगवान् के भक्तगण इस भगवत्प्रेम का वर्णन करते समय सब प्रकार की मानवीय-प्रेम की भाषा को इसका वर्णन करने के लिए उपयोगी समझकर उसका सहारा लेते हैं। मूर्ख लोग यह समझते नहीं, ये कभी इसे समझ नहीं सकेंगे। वे इसे केवल जड़-दृष्टि से देखते हैं। वे इस आध्यात्मिक प्रेमोन्मत्तता को समझ नहीं सकते। कैसे समझ सकें? "हे प्रियतम, तुम्हारे अधर का एकमात्र चुंबन, जिसे एकबार तुमने चुंबन किया है, उसके लिए उसकी प्यास बढ़ती ही रहती है। उसका सब दुःख दूर हो जाता है। वह तुम्हारे सिवा और सबको भूल जाता है।"* प्रियतम के

---

* सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
श्रीमद्भागवत। १० स्कंध। ३१ अध्याय। १४ श्लो०

उस चुंबन, उनके अधर के उस सस्पर्श के लिए व्याकुल होओ—जो भक्त को पागल कर देता है, जो मनुष्य को देवता बना देता है। भगवान् ने जिसे अपना वह अधरामृत एकबार पिलाकर कृतार्थ कर दिया है, उसकी सारी प्रकृति बदल जाती है। उसके लिए यह जगत् गायब हो जाता है, उसके लिए फिर सूर्यचंद्र का अस्तित्व नहीं रहता। उसके लिए सभी जगत्प्रपंच उसी एक अनन्त प्रेम-समुद्र में डूब जाता है। यही प्रेमोन्मत्तता की चरम अवस्था है। सच्चा भगवत्प्रेमी किन्तु इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता। स्वामी-स्त्री का प्रेम भी उनकी दृष्टि में उतना पागल बना देनेवाला नहीं है। भक्त लोग अवैध (परकीया) प्रेम के भाव को ग्रहण किया करते हैं, क्योंकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। उसका अवैध (नाजायज) होना उनका लक्ष्य नहीं है। इस प्रेम की प्रवृत्ति यह है कि वह जितनी रुकावट पाता है, उतना ही उग्र भाव धारण करता है। स्वामी-स्त्री के प्रेम में कोई बाधा नहीं है, विघ्न नहीं है। इसीलिए भक्त लोग कल्पना करते हैं, जैसे कोई बालिका अपने प्रियतम पुरुष में आसक्त है और उसके पिता, माता या स्वामी प्रेम के विरोधी हैं। जितना ही यह प्रेम बाधा को प्राप्त होता है, उतना ही वह प्रबल होता जाता है। श्रीकृष्ण वृन्दावन में किस तरह लीला करते थे, किस तरह सब उन्हें उन्मत्त होकर प्यार करते थे, किस तरह उनकी बंसी सुनकर गोपियाँ—वे भाग्यवती गोपियाँ सब कुछ भूलकर, सारे जगत् को भूलकर, जगत् के सब बंधन, सब कर्त्तव्य, जगत् के सब सुख-दुःख भूलकर

उनसे मिलने दौड़ी जाती थीं, मनुष्य की भाषा यह प्रकट करने में असमर्थ है। मनुष्य, मनुष्य, तुम ईश्वर प्रेम की चर्चा करो, और जगत् के सब भ्रमात्मक विषयों में—जगत् के भ्रम जाल में ही पड़े रहोगे ? तुम्हारा क्या मनमुख एक है ? "जहाँ राम हैं, वहाँ काम है , वहाँ राम नहीं रह सकते।"* दोनो एकत्र कभी नहीं रह सकते—प्रकाश और अंधकार एक जगह नहीं रह सकता।

---

* जहाँ राम वहाँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
(तुलसी दोहावली)

उपसंहार

जब प्रेम इस उच्चतम आदर्श तक पहुँच जाता है, तब ज्ञान न जाने कहाँ चला जाता है। तब कौन ज्ञान के लिये व्यस्त होगा ? मुक्ति, उद्धार होना, निर्वाण यह सब तब न जाने कहाँ चला जाता है। इस ईश्वर प्रेम के आनद का उपभोग करने को मिले तो कौन मुक्त होना चाहेगा ? "भगवन्, मैं धन, जन, सौन्दर्य, विद्या, यहाँ तक कि मुक्ति भी नहीं चाहता। जन्म-जन्म में तुम्हारी नि स्वार्थ अहेतुकी भक्ति ही मैं पाऊँ।" भक्त कहता है, चीनी होना अच्छा नहीं है, मैं चीनी खाना पसद करता हूँ।" तब कौन भक्त होने की इच्छा करेगा ? कौन भगवान् के साथ अभेद भाव की आकाक्षा करेगा ? भक्त कहता है—"मैं जानता हूँ, वह और मैं एक हूँ, किन्तु, तो भी मैं अपने को उनसे अलग रखकर प्रियतम का उपभोग करूँगा।" प्रेम के लिये प्रेम, यही उसका सर्वश्रेष्ठ सुख है। प्रियतम का उपभोग करने के लिये कौन हजार बार ससार-बँधन में बँधेगा ? कोई भी भक्त प्रेम के सिवा और कोई वस्तु नहीं चाहता। वह स्वय प्रेम करना चाहता है और चाहता है कि भगवान् भी उसको प्रेम करें। उसका निष्काम-प्रेम बहाव काटकर जाता है। प्रेमिक जैसे नदी के उद्

गम की ओर—प्रवाह को काटकर जाना चाहता है। दुनिया उसे पागल कहती है। मैं जानता हूँ, एक आदमी को लोग पागल कहते थे। वह जवाब देता था—"मित्रो, यह सारा जगत् एक पागलखाना है। कोई सासारिक प्रेम में पागल है। कोई नाम के लिये, कोई यश के लिये, कोई धन के लिये और कोई मुक्ति या स्वर्ग के लिये पागल है। इस विराट पागलखाने मे मैं भी पागल हूँ। मैं भगवान के लिये पागल हूँ। तुम रुपये के लिये पागल हो, मैं ईश्वर के लिये पागल हूँ। तुम भी पागल हो, मैं भी वही हूँ। मगर मुझे जान पड़ता है, मेरा पागलपन ही सबसे अच्छा है।" सचे भक्त का प्रेम इसी तरह की तीव्र उन्मत्तता या पागलपन है। उसके सामने और कुछ भी नहीं ठहरता। सारा जगत् उसके निकट प्रेम, केवल प्रेम से पूर्ण है। प्रेमिक की दृष्टि मे ऐसा ही प्रतीत होता है। जब मनुष्य के भीतर प्रेम प्रवेश करता है, तब वह अनन्त काल के लिये सुखी, अनन्त काल के लिये मुक्त हो जाता है। भगवत् प्रेम का यह पवित्र पागलपन ही केवल हमारे हृदय की ससार-व्याधि को अनन्त काल के लिये आरोग्य कर सकता है।

प्रेम का धर्म हमें द्वैत-भावना के साथ शुरू करना होता है। भगवान् हमारी दृष्टि में हम से भिन्न हैं, और हम भी उनसे अपने को अलग ही समझते हैं। प्रेम हम दोनों को मिलाता है। तब मनुष्य भगवान् की ओर आगे बढ़ता है और भगवान् भी धीरे-धीरे अधिकतर उसके पास जाते हैं। मनुष्य ससार के सब—

जैसे पिता, माता, पुत्र, सखा, प्रभु, प्रणयी आदि भावों को लेकर उनके प्रेम का आदर्श का भगवान के प्रति आरोप करते हैं। उनके निकट भगवान् इन सब प्रकार के रूपों से विराजमान हैं। और वे तभी उन्नति की चरम सीमा में उपस्थित होते हैं, जब वह अपने उपास्य देवता में सपूर्ण रूप से तन्मय हो जाते हैं। हम प्रथम अवस्था में सभी अपने को प्यार करते हैं। इस क्षुद्र अहार का दावा प्रेम को भी स्वार्थी बना देता है। किन्तु अन्त को पूर्ण ज्ञान ज्योति का विकास होता है और देखा गया है कि यह क्षुद्र अहार का भाव उस अनन्त के साथ मिलगया है मनुष्य स्वय इस प्रेमज्योति के सामने सपूर्ण रूप से परिवर्त्तित हो जाता है। उसके पहले थोड़ा बहुत जो कुछ मैल या वासना थी, वह सब चली जाती है। यह अन्त को इस सुदर प्राणों को पागल बना देनेवाले सत्य का अनुभव करता है, कि प्रेम, प्रेमिक और प्रेमास्पद एक ही है।